धरती मेरा घर

रांगेय राघव

धरती मेरा घर

रांगेय राघव

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

मूल्य : तीन रुपये पचास पैसे
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-६
मुद्रक : राष्ट्रभाषा प्रिंटर्स, दिल्ली-६

DHARTI MERA GHAR by Rangeya Raghav
NOVEL RS. 3·50

धरती मेरा घर

धरती मेरा घर

छुईमुई सपना देख रही है।
जीवन में सब सपने देखते हैं, क्या छुईमुई नहीं देख सकती ?
कैसा प्यारा नाम है !
छुई और मुई !!
लेकिन कितने लोग जानते हैं कि...

१

सन् १९३५ ई०।

"चाय यहां नहीं मिलती ?"

"नहीं हुजूर ! यह गांव ठहरा।"

"गांव में लोग चाय नहीं पीते ?"

"कभी जूड़ी-ताप चढ़े तो पीते हैं हुजूर !"

"इस कड़कड़ाते जाड़े में भी ?"

"कोई नहीं हुज़ूर ! यह शहर थोड़े ही है !"

मैंने कहा, "तो बाजार में कोई नहीं रखता ?"

"क्या करेंगे रखकर हुज़ूर ! जो चीज़ बिके नहीं उसे रखकर भी क्या करेंगे ? जिसका गाहक ही नहीं, वह यहां कौन रखे !"

"अच्छा तो कोई स्टेशन के बाज़ार से ले आएगा ?"

"हुज़ूर, भंगी के सिवाय डाकबंगले पै और कोई नहीं। मैं चला जाऊं हुक्म दें तो ! बारह मील पड़ेगा यहां से !"

"फिर खाना कौन बनाएगा शाम को ?" मैंने बात टाली।

"हां हुज़ूर ! खैर ! देखिए ! मैं करता हूं कोसिस। कहकर रेवत चला गया। मैं सोचने लगा। अजीब मुल्क है यह भी ! मेरे आगरा से इतना पास है यह रियासत भरतपुर का गांव ! बयाने से सिर्फ थोड़ी दूर। थोड़ी दूर ! भगवान बचाए ! ग्यारह मील जब तांगे में पार किए तो खराब सड़क पर दो घंटे लग गए। लेकिन फिर भी क्या है ! जिस काम से मैं आया हूं वह क्या मामूली है ! सुना था कि वैर में कुछ पुरानी हस्तलिखित पोथियां थीं। मेरा पुराना शौक ठहरा। चल पड़ा आगरा से। बयाने के नाज़िम साहब पढ़े थे मेरे साथ आगरा कालेज में। उन्होंने बुलाया अफसर बनने के बाद। उनके यहां रियासती ठाठ देखे और चर्चा चली तो बोले, "भाई शर्मा! क्यों न वैर जाकर डाकबंगले में कुछ दिन रहो।"

मैंने कहा, "वैर ! कैसा खराब नाम है !"

बोले, "बड़ी अच्छी जगह है। पानी भी अच्छा है। डाकबंगले में दो कमरे हैं। एक में रह आओ थोड़े दिन। मैं भी दौरे पर आऊंगा उधर। दीवान साहब का दौरा उधर नहीं है। फिर किसकी रोक है ?"

महाराज विलायत में पढ़ रहे थे। मुझे कोई उज्र दिखाई नहीं दिया। आगरा में इतिहास पढ़ाता था। था तो अलीगढ़ का, पर अलीगढ़ मुझे नापसन्द था। आगरा में पढ़ा, वहीं नौकरी मिल गई। राजेन्द्रसिंह कालेज में भी दोस्त थे, और नाज़िम होने पर भी हैं। उन्होंने छुट्टियों में बुलाया। मैं आ गया।

वैर आकर देखा तो मुझे अच्छा लगा। बड़ा गांव था। चारों ओर कच्चा गढ़ था। घुसते ही किला दीखता था। बगल में नहर थी। तांगा पुल पार करके टेढ़े-मेढ़े रास्तों से निकल फुलवाड़ी की घनी हरियाली का चक्कर देकर, गढ़ पार करके, नौलक्खे के जंगल में घुसा। बायें हाथ को अस्पताल की इमारतें पार करके हम डाकबंगले आ पहुंचे। कभी-कभार अंगरेज़ दीवान आता था, इसलिए डाकबंगले की रौनक देखने लायक थी। सामने बाग लगा हुआ था। पीछे हनुमानजी के पुराने मन्दिर के पास कनेर वगहरा के पौधे थे जो विशाल बरगद के नीचे मोरों को जगह देते थे। नौलक्खा भी काफी घना था। और जब मैं घूमने निकला तो मैंने एक छत-

नार बाग देखा। डाकबंगले में लौटकर रेवत से पूछा, "चपरासी !"

"हुज़ूर !"

"यह उधर एक बाग है ?"

"हां हुज़ूर ! दौलावाला कहलाता है। भीतर तो नहीं गए हुज़ूर ?"

"नहीं, यहीं से टहलते वक्त देखा।"

"न जाएं हुज़ूर, उसमें तो दिन में भी अंधेरा-सा रहता है। कभी-कभी बघेर भी आ जाता है, सीते की तरफ से। पीछे तालाब है, उधर भी सुनसान पड़ता है।"

जब तीन बजने को आए तो मुझे चाय की सूझी। रेवत परेशान हो गया। जब वह चला गया तो मैंने सोचा, चाय न मिली तो मज़ा किरकिरा हो गया।

मेरे आने की सूचना तहसीलदार साहब को दे दी जा चुकी थी बयाने से ही। मुझे उम्मीद थी वे आते ही होंगे। लेकिन उसी दिन उन्हें किसी खास काम से दौरे पर चला जाना पड़ा था। जाने कोई मौका-मुआयने का केस था। मुझे पांडुलिपियां ढूंढ़ना था जो सरकारी दबाव के बिना काहे को होता ! मैं जानता हूं, हिन्दू लोगों से यदि पूछा जाए कि आपके पास कोई पुरानी किताब है, तो फौरन कहेंगे—हमारे पास कहां है ? किताब तो हमारे बाप ने भी नहीं देखी।—बड़ी-बड़ी किताबें रखेंगे, लेकिन किसीको दिखाएंगे नहीं।

मैंने बरामदे में कुर्सी खींच ली और बैठ गया। सिगरेट निकाली। सुलगाई। मेरी बिखरी हुई चेतना जैसे सिमट आई।

धुआं उठा, छल्ला-सा हवा पर लरजा खाने लगा। फिर उसमें से दूसरा निकला, और एक-एक के बाद हवा में पतला पड़-पड़कर बिखर गया।

सांझ हो चली थी। अब आकाश का यात्री अपने सुनहले डैने जैसे समेटने लग गया था। नीलम की-सी धुंध उसके पांवों से झर रही थी।

दूर सूरज की किरनें पेड़ों के नीचे छाया को हटाकर कुछ ढूंढ़ रही थीं। दिन-भर जो छाया पेड़ों के नीचे बैठी रही थी, वह अब पत्तों की तहों में जा छिपी थी।

कदंब के घने पेड़ दूर से श्यामल-से दीख रहे थे। बगल में एक खंड-हर-सा एक छोटे टीले पर दीख रहा था। उसके ऊपर एक पीपल-सा उग आया था।

चारों ओर सन्नाटा था। प्रशांत। संध्या की पगचाप मुझे जैसे सुनाई दे रही थी। कुछ ही देर में वहां कुछ आहट-सी सुनाई दी। पेड़ों के नीचे से खेतों की ओर से गले की घंटियां हिलाती हुई रंभाती गाएं पगडंडियों से आईं और तीन संग-संग उगे इमली, नीम और कदंब के पेड़ों के पास से धूल उड़ाती चली गईं।

तभी रेवत एक व्यक्ति के साथ आ पहुंचा।

"हुज़ूर, ये मास्टर साथ हैं!" उसने कहा।

मैंने गंभीरता से देखा।

रेवत ने कहा, "हमारे गांव के ही हैं।"

आगंतुक ढीला पाजामा पहने था। उसके ऊपर एक कमीज़ थी। ऊपर रियासती कोट था। सिर के बाल कढ़े हुए थे। मांग बाईं ओर से निकाली गई थी। उसके मुख पर तलवारछाप मूंछें थीं और वह देखने में सज्जन लगता था। उसकी आंखों में मुझे एक उत्साहप्रद विनम्रता दिखाई दी, जो कि प्रायः मनुष्यों में कम मिलती है।

मैंने उठकर स्वागत किया।

"आइए, मास्टर साहब···" मैंने कहा।

"हैं, हैं, बैठे रहिए···" उसने बीच में ही कहा।

"आप बैठिए भी," मैंने उत्तर दिया।

"आप मेहमान हैं···"

रेवत ने कुर्सी लाकर डाली। मास्टर साहब तब बैठ गए। क्षण-भर हम दोनों ने एक-दूसरे की ओर देखा कि क्या बात शुरू की जाए। मैं अभी यह तय नहीं कर पाया था कि प्रारम्भ किस तरह करूं।

रेवत ने कहा, "हुज़ूर! चाय आ रही है।"

"कहां से आ रही है?"

"मास्टर सा'ब के यहां से।"

रेवत के जाने पर मेरी बात मास्टर सा'ब से होने लगी। वे मुझे

देखकर बहुत प्रसन्न हुए। मेरा वैर आना उन्हें बड़ा गौरव-सा लग रहा था।

"आप यहां स्कूल में पढ़ाते हैं ?" मैंने पूछा।

"नहीं प्रोफेसर साहब..."

"आपको कैसे पता चला, मैं प्रोफेसर हूं ?"

"मुझे पोस्टमास्टर साहब ने बताया। उन्हें तहसील के मुंशीजी ने कहा था। अब तो सारा गांव जानता है। बात यह है कि छोटी-सी जगह है। उसमें आप जैसे महान व्यक्ति पधारें और बात छिपी रह जाए! मेरा मतलब गंवारों से नहीं है।" फिर बोले, "पढ़े-लिखे यहां नहीं के ही बराबर हैं। मैंने भी इण्टर ही किया है।"

"फिर भी आप स्कूल में नहीं पढ़ाते ?"

"जी नहीं। मुझे क्या जरूरत है ? आप तो फतहपुर सीकरी गए होंगे ?"

"नहीं। अभी तो नहीं गया।"

"तो आप ज़रूर आइए। वहां के बाबू रामपरशाद बड़े आला रईस हैं। अकबर के ज़माने से ही उनका खानदान वहां है। बड़ी धाक के आदमी हैं। और बड़ी नई रोशनीवाले हैं। लड़की को भी पढ़ाते हैं। ग्यारह साल की उनकी बिटिया है। मैं उसी बच्ची का प्राइवेट ट्यूटर हूं। जो स्कूल में तनख्वाह है, वही पाता हूं।"

"तो आप छुट्टी लेकर घर आए हैं ?"

"अजी! प्रोफसर साहब! क्या बताऊं! वह तो किस्सा ही और है। अब क्या बताऊं! मेरा तो वैर घर है। इसलिए साल में तीन-चार बार तो आता-जाता ही हूं। लेकिन इस बार तो मेरे आने की वजह ही और है।"

इसी समय एक आदमी लोटे में तैयार चाय और दो कांच के गिलास ले आया। मुझे शक हुआ कि चाय ठंडी होगी। लेकिन लोटे की चाय अभी भी गर्म थी।

मास्टर साहब ने कहा, "इसे मैं आपके सामने चाय तो क्या कहूं! न टी-सैट, न कुछ। मगर मेरी आदत पड़ गई है। लोग कुछ भी कहें, लेकिन

मैं तो साहब दोनों वक्त पीता हूं। चाहे जेठ हो चाहे बैसाख। यह चाय है ही ऐसी चीज़। लोग कहते हैं कि चना और चुगल मुंह लगे बुरे। मैं कहता हूं कि चाय इनसे ज़्यादा बुरी।"

मुझे हंसी आ गई।

मास्टर साहब ने कहा, "अपनी तो हैसियत ऐसी थी कहां! मगर बाबू साहब दरियादिल और नेक आदमी हैं। खुद पीते हैं, तो मुझे भी पिलाते हैं। पीता हूं। मैं भी पीता हूं। अब खुद भी पैसा खर्चता हूं। आदत और शौक में यही तो फर्क है। शौक दूसरों के बल पर चलता है, बल न मिलने पर छूट जाता है। लेकिन आदत अपने सिर का बोझ है, जिसे हर हालत में ढोना पड़ता है।"

संध्या की उस सुहावनी बेला में मुझे उस चाय में आनन्द आ गया। मैं वैसे इतिहास पढ़ाता था, लेकिन हिन्दी कविता मुझे प्रिय थी। पंत, निराला और प्रसाद मेरे प्रिय थे। उस एकांत में मुझे संध्या तारा दीखा तो न जाने कितनी पंक्तियां मानस में उमड़ आईं।

मैंने कहा, "मास्टर साहब! आपको कविता से प्रेम है?"

"प्रोफेसर साहब! मुझे तो असल में राजनीति से प्रेम है। लेकिन मेरे तो पंख कटे हुए हैं। इस पेट के लिए मैंने अपने-आपको भुला लिया है। अपने जीवन के आरम्भ में मैं कांग्रेस में था। आप हैं प्रोफेसर। आपसे कह देता हूं। लेकिन अब कुछ नहीं करता। सब छोड़ चुका हूं। बाबू साहब की मेहरबानी है। बस!"

आध-एक घंटा बीत चला। अंधेरा-सा घिरने को आ गया तो मास्टर उठ खड़े हुए। हाथ जोड़कर कहा, "आज्ञा है?"

मैंने कहा, "आप जा रहे हैं?"

"मैं जा नहीं रहा हूं।" वे बोले, "आप जब तक रहें, मुझ गरीब की चाय कबूल करें। दोनों वक्त आ पहुंचेगी। मौका मिला तो मैं भी हाज़िर होऊंगा। क्या बताऊं, ज़रा इस वक्त काम में लगा हूं। बाबू साहब के लिए चिन्ता में हूं।"

"क्या मतलब?"

"अब उन्हींके यहां जा रहा हूं।"

"आपने तो कहा वे फतहपुर सीकरी…"

"जी हां, वहीं के रहनेवाले हैं वे। लेकिन आजकल उनका खेमा वैर में ही गड़ा हुआ है।"

"वैर में?"

"जी हां, बिलकुल।"

"कहां?"

"बस इधर सड़क के पार। सामने दीख रहा है, वह हरियाली के उधर।"

"यहां कैसे?"

"वह अब मैं कल हाज़िरी देकर बताऊंगा।"

"आइएगा ज़रूर।"

"ज़रूर! वाह! भला यह भी कोई कहने की बात है!"

जब मास्टर साहब चले गए, मैं तरह-तरह की बातें सोचता हुआ भीतर आ गया। रेवत कुर्सियां ले आया। सर्दी ज्यादा थी। पलंग पर अपने बिछे बिस्तर पर बैठ गया और मैंने रज़ाई पांवों पर डाल ली।

सन्नाटे में कभी-कभी उल्लू की हंसती हुई आवाज़ सुनाई दे जाती। उल्लू की मैंने तरह-तरह की आवाज़ें सुनी हैं। कभी वह बच्चे की तरह रोता है, कभी ऐसी डरावनी आवाज करता है कि लोग चौंक जाते हैं। हास्य का स्वर और भी भयानक लगता है। मैं सुनता रहा। आखिर उल्लू क्यों हंस रहा था?

हवा सांय-सांय बह रही थी। पेड़ों के पत्ते आपस में टकराते थे। क्या वे आपस में बातें करते हैं? कैसी सत्ता है! हवा उन्हें हिला रही है और वे हिल रहे हैं। कैसा होगा उनमें वह स्पंदन जब इनका रोम-रोम विकंपित हो उठता होगा!

डाकबंगला शांत खड़ा था। नीरव। मनुष्य जहां रहते हैं, उन दीवारों पर भी जीवन जैसे अंकित हो जाता है। जहां कभी-कभी ही कोई रहता है, वहां दीवारें भी मनुष्य से किसी प्रकार की आत्मीयता स्थापित नहीं कर पातीं। मनुष्य उन दीवारों पर विश्वास नहीं कर पाता। क्या मनुष्य ने इसीलिए घर बनाया है कि उसमें वह रहे और उससे अपनी सत्ता का एक

तादात्म्य स्थापित कर सके ?

पीछे रेवत जब-तब खांस उठता था। कुछ दूरी पर नौकरों के क्वार्टर बने थे। मैंने अचानक ही महसूस किया कि वह अकेला था। आज मैं उसके कारण दुकेला था, पर उस समय भी वह अकेला ही था, क्योंकि उसे मेरी देखभाल करनी थी, न कि मुझे उसकी। क्या वह सदैव ऐसे रह लेता है, और उसे ऊब नहीं लगती ? जब डाकबंगले में कोई नहीं रहता, तब भी यह यहां योंही अकेला रहता है ! और शायद फिर भी इसे कोई शिकायत नहीं।

मैंने किताब खोल ली। कविताएं थीं। अंग्रेज़ी की। पता नहीं, पढ़ते-पढ़ते मैं कब सो गया।

सवेरे रेवत ने आकर कहा, "हुज़ूर, लैम्प बुझा दूं ?"

"अरे !" मेरे मुंह से निकला, "रात-भर जलता ही रह गया ?"

तीसरे दिन मास्टर किशोरीरमण फिर आ गए। मैंने कहा, "अरे, आप तो फिर दिखाई ही नहीं दिए !"

बातचीत चल पड़ी। मास्टर का तो रूप ही कुछ और निकला। मैंने जिसे रियासती टाइप समझा था वह तो वास्तव में कट्टर गांधीवादी था। लेकिन मजबूरियों ने इसे ऐसा ही छिपा रखा था जैसे अंगारों को राख छिपा लेती है। फिर तो हमारी दूरी बहुत कुछ मिट गई। जब मैंने उसे बताया कि मैं भी छिपे तौर पर क्रान्तिकारियों का मददगार रह चुका था, तब उसने मुझसे अनेक-अनेक बातें कीं। मुझे आश्चर्य हुआ कि जिसे मैंने कल एक रियासती समझा था, वह काफी पढ़ा-लिखा और आत्मसम्मान का देशभक्त किस्म का आदमी था। साहित्य में उसे अच्छी रुचि थी। और फिर वैर जैसी जगह का रहनेवाला, इतनी योग्यता कैसे प्राप्त कर गया ! पर फूल कहां खिलेगा इसके बारे में कौन बता सकता है ? बीज किस चट्टान में मिट्टी पाकर लहलहा उठेगा, इसे कौन पहले से जान सकता है ? मनुष्य तो सब जगह संघर्ष करता है। जहां उसे मौका मिलता है वहीं वह अपना रास्ता बना लेता है। प्रतिभावान और पानी का स्वभाव इस विषय में एक-सा होता है कि ज़रा-सी जगह मिल जाने पर वे आगे निकल सकते हैं।

जब मास्टर चला गया, रेवत ने मुझसे कहा, "हुज़ूर !"

"क्या है ?"

"मास्टर साहब तो पुराने कांग्रेसी हैं।"

"अच्छा।"

"हुज़ूर से कहते तो थे।"

"तो तुम सुन रहे थे ?"

"हां हुज़ूर, आप नाज़िम साहब के दोस्त हैं।"

"तो ?"

"हुज़ूर, कौन नहीं समझता कि आप सरकारी अफसर के बराबर हैं। पर हुज़ूर, मैं चाय के लिए मास्टर साहब को लाया था। मेरा कांग्रेस से कोई नाता नहीं है।"

"हां तो, क्या है ?"

"हुज़ूर, डर लगता है।" रेवत ने कहा और चला गया।

दूसरे दिन दुपहर की धूप ढल रही थी। कमरे के खुले दरवाज़े से मैंने देखा कि सामने के मैदान में काफी हलचल थी। कल तो यहां कोई नहीं था।

रेवत ने चाय लाकर जब सामने रखी तो बोला, "हुज़ूर ! मैं ही ले आया आज।"

"कहां से ?"

"मास्टर साहब के घर से बनवा लाया हूं।"

भीड़-सी देखकर मैंने पूछा, "रेवत !"

"हुज़ूर।"

"यह सामने कौन लोग दिखाई दे रहे हैं ? इनके पास यह क्या है ? गाड़ियां ही हैं न ? बनावट भी और किस्म की है।"

"हुज़ूर, लोहपीटा लोग हैं।"

"ये कौन लोग हैं ?"

"लोहा बनाते हैं गांव-गांव में—दरांत, फावड़ा, कुल्हाड़ा। मरम्मत भी करते हैं बहुत-सी चीज़ों की।"

"तो क्या यहां लुहार नहीं ?"

"हैं हुजूर, पर ये खेती के सामान बनाते हैं।"

मैं चाय पीने लगा।

"कभी-कभी इस मैदान में कंजर भी आते हैं हुजूर।"

"यह मैदान इन्हींके लिए है ?"

"हुजूर, पहले यहां दरखत थे। कट गए हुजूर। अब कौन देखता है !" उसने एक लम्बी सांस लेकर कहा।

मैं इस मध्यकालीन वातावरण के बारे में न जाने क्या-क्या सोचने लगा। बर्तन लेकर रेवत चला गया। मुझे विचार आते रहे। इतिहास मेरा अपना विषय। पुराने ग्रंथों की खोज करना मेरा काम। सोचने लगा।

विचार आया। क्या किसी दिन मथुरा से वैराट की तरफ जाने का रास्ता इधर ही से न रहा होगा ? यह स्थान ब्रज प्रदेश के अंतर्गत ही तो रहा होगा ? पहले यहां शायद जंगल ही होंगे। कैसा रहा होगा वह समय ? किसी समय यहां से सार्थ (काफिले) जाते होंगे। वाणिज्य (बनिज) करनेवाले इधर से अपने साथ कितनी ही भीड़ लेकर चलते होंगे। फिर इस जगह का नाम भी कैसा था ? वैर ! क्या अर्थ होगा इसका ? मैं आगरे की शहरी सभ्यता का आदमी, जिसपर मुगलों के वैभव की छाया अभी तक खंडहर-सी बिखरी पड़ी थी। वैर मुझे अजीब-सा लगा। यहां के लोग यों तो विचित्र नहीं। परन्तु देसी रियासत में अंग्रेजी राज के लोगों के रहन-सहन से कितना भेद है ! आप कह नहीं सकते, किन्तु यह स्पष्ट दीखता है।

ज्यों-ज्यों मैं कल्पना करता गया, मेरे सामने नये चित्र खड़े होते गए।

इतिहास का मोह बड़ा उदात्त होता है। अतीत जब आंखों के सामने नाचने लगता है तब मानो अंधकार में से अनजाने मानव निकल-निकलकर कहते हैं कि मुझे देखो, मैं यहां हूं ! क्या तुम मुझे जानते हो ?

और मैंने तब सोचा, क्यों न घूमने चलूं ? सबको देख आऊं। यह विचार आते ही मैंने कपड़े बदले। अज्ञात के प्रति जो एक रहस्यमय कौतूहल होता है, वह सचमुच बहुत आकर्षक होता है कि न जाने अब क्या मिलेगा।

मैं घूमने निकल पड़ा। बाहर की हवा कुछ हलकी थी। प्रकृति की

शांति यहां अपने संपूर्ण वैभव के साथ उपस्थित थी। पक्षी अपना मदिर कोलाहल करते हुए अपने नीड़ों की ओर चले जा रहे थे जैसे अनवरत चलते जीवन की यह एक मंज़िल है। एक वे मछलियां हैं, जो सारे जल में तैरते हुए भी अपने अंडे देने की जगह को अलग से पहचान लेती हैं।

सामने मैनाबास था। मैं उसके घर देखता रहा। मैना जाति। एक कबीला जाति का खेतिहर जीवन। कैसे हैं ये लोग! नगर का व्यक्ति सच-मुच ग्राम की प्रत्येक वस्तु को विचित्र दृष्टि से देखता है।

स्त्रियां अपने बालों को सिर पर उलटे जूड़े के रूप में बांधे थीं। मुझे लगा जैसे हड़प्पा-मोहनजोदड़ो-कालीन कोई पुरानी सज्जा थी। यूरोप की दौड़ और इस गांव की गतिहीनता कैसी थी! और एक ही समय दोनों मौजूद हैं। पुरुषों को खेती है, और जीना है। यहां शिक्षा नहीं, न उसकी कोई आवश्यकता है। मजबूरी, गरीबी, पैसा होने पर उसका प्रयोग न जानना, ऐसी ही कितनी बातें हैं जो इनके जीवन में समा गई हैं।

कुत्ते दिन में सोते हैं, रात में जागते हैं। सचमुच यह भारत एक ऐसा देश है जिसमें अनेक शताब्दियां जैसे एकसाथ ही रहती हैं और हर शताब्दी की मनोवृत्ति एक-दूसरी को अविश्वास से देखती है।

घनी इमलियों की छांह में से मैंने देखा गाड़ियां खड़ी थीं। चौकोर-सी, पीतल की कीलें जड़ी काली-काली-सी। बैल बैठे थे, जुगाली कर रहे थे। अलसाहट सांझ की थकान में घुल रही थी। चलते रहना ही तो इसके निरुद्देश्य लगनेवाले जीवन का लक्ष्य-सा बन गया है।

लोहपीटा लोगों के अलाव सुलगने लगे थे। हवा आंच को हिलाती और लपटों के हाथ फैलाकर आग उस समय जीवित रहने के लिए लड़ती। मैंने सोचा। कबीर ने पूछा था कि आग जलती है कि काठ! कबीर ने जीवन की मार्मिकता को आज से सात-एक सौ वर्ष पहले कैसी गहराई से जान लिया था।

मैंने देखा एक पुरुष बैठा था। उसके सिर के बाल कतरे हुए थे। कैंची से कटे होने के कारण कहीं स्याही ज़्यादा थी, कहीं कम। और दोनों कानों के ऊपर उसकी ज़ुल्फें लटक रही थीं। मुझे याद आया, प्राचीनकाल में पंचशिखा रखते थे। क्या वे ऐसे ही लगते थे? पास में

एक स्त्री रोटी पका रही थी। हाथों में चूड़े, कुहनियों के ऊपर चूड़े, मैले घाघरे और मैली ओढ़नी में वह अपने माथे तक ढंकी हुई थी।

बगल में एक बच्चा था। बाप काला था, मां गंदुमी थी और बच्चा शायद तीसरी पर्त की तरह गोरेपन की ओर झुका हुआ था। शरीर पर हलका-सा कुर्ता। धूल के कारण शरीर मैला था। फिर भी वह बच्चा मुझे अच्छा लगा। कैसा मासूम था! बैठने लगा था। शायद होगा सात-आठ मास का। और मैं उनको देखता रहा। फिर ध्यान आया। औसत गांववालों में और इनमें क्या भेद था?

ये लोग चलते हैं, फिर भी नहीं बदलते।

गांव में लोग टिककर रहते हैं, पर बहुत धीरे बदलते हैं।

एक ही जीवन में कितने-कितने स्तर हैं!

एक ही संस्कृति में कितनी छायाएं हैं! एक ही हवा में कितने झोंके हैं! सचमुच! कैसा विचित्र है यह भारत, जो इतने भेदों के रहते हुए भी एक कहलाता है!

यही सब सोचता मैं डाकबंगले में आ गया।

रेवत ने कहा, "हुजूर, दौलावाले बाग की तरफ तो नहीं गए? मुझे तो हुजूर! बड़ी फिकर-सी लग गई थी।"

"नहीं, क्या बात है वहां? उस दिन भी तुमने कहा था।" मैंने कौतूहल से पूछा, "क्या है यह दौलावाला?"

"हुजूर, बड़ा घना है वहां। परसों ही सुनते हैं बघेर दिन में बैठा था। यों तो कोई जाता नहीं, पर कभी-कभी लकड़ियां बटोरने को चला जाता है।"

मेरी उत्सुकता जाग उठी। निश्चय किया कि उस सघन स्थान को अवश्य देखूंगा। कभी-कभी कल्पना से यह लगने लगता है कि अमुक अनजान स्थान ऐसा होगा, औग वैसा ही निकलता है। ऐसा क्यों होता है, यह तो मैं नहीं जानता, परन्तु इस बार भी ऐसा होगा, इसका मुझे व्यर्थ ही एक अंदेशा-सा होने लगा, यद्यपि वास्तव में बाद में ऐसा बिलकुल नहीं हुआ।

अगले दिन मास्टर साहब के आने पर मैंने कहा, "आपने कुछ अपने

गांव के बारे में हमें नहीं बताया।"

"यहां बताने लायक है क्या? आप आगरा से यहां आए हैं। इतनी बड़ी ऐतिहासिक जगह से बढ़कर मैं यहां क्या दिखला सकता हूं आपको! वैसे मैं हाज़िर हूं।" मास्टर ने स्वर बदलकर कहा, "चलिएगा?"

"अभी?" मैंने कहा, "आप बैठिए। मैं वैसे तो तैयार हूं। पर आप अभी आए हैं। हरियाली के कारण बड़ी अच्छी जगह है यह। आपके गांव का कुछ इतिहास भी है?"

वे सुनाने लगे। फिर मैं उठा और दोनों चल पड़े। मास्टर साहब मुझे पुराने स्थान दिखाने लगे। उन्होंने बताया। करीब ढाई सौ बरस पहले जब जाटों का उत्थान हुआ तब राजा बदनसिंह के छोटे बेटे प्रतापसिंह ने वर्तमान वैर को बसाया था। तब की ही यह बस्ती थी, जो धीरे-धीरे उजाड़ होती जा रही थी।

हमने गढ़ देखा माटी का। किला देख आए। छोटा-सा था। और एक नहर थी, जिसमें पानी भरा था। फुलवाड़ी बड़ी सुन्दर थी। उसमें पक्की रविशें और क्यारियां बनी हुई थीं। मास्टर साहब ने कहा, "पता नहीं यह कितने तूफान झेल चुकी है। पहाड़ों में पानी बरसता है, बहकर पीछे के तालाब में आता है, तालाब से नहर में और उससे यह फुलवाड़ी भरती है। इस फुलवाड़ी की ऊंची कुर्सी पर सफेद महल है। चलेंगे उधर?"

"ज़रूर।"

हमने सफेद महल देखा। साधारण था, पर फिर भी अच्छा था। वहां मौलसिरी, हरसिंगार, गुलचीनी, कचनार, सहजना, मीठा नीम इत्यादि के सुन्दर वृक्ष थे। बड़े-बड़े ऊंचे महुआ, इमली, जामुन और आमों ने स्थान को बहुत ही रमणीक बना रखा था। जब हम लौटे तो मन प्रसन्न था। मास्टर साहब चले गए।

दूसरे दिन मैं बाबू रामपरशाद के बारे में सोच रहा था कि मास्टर साहब आ गए। बोले, "चलिएगा? कष्ट होगा! बाबू साहब से मैंने आपका ज़िक्र किया। चाय पर बुलाया है उन्होंने आपको।"

"अरे, मुझे?"

"और क्या ! आप तो तकल्लुफ करते हैं।"

मास्टर साहब जब पीछे ही पड़ गए तो मुझे तैयार होना पड़ा। हम जब उनके निवास-स्थान के निकट पहुंचे, मैंने देखा कि खेमे गड़े हुए थे। दो-चार नौकर भी मौजूद थे। पूरा ठाठ था ज़मींदाराना।

मास्टर साहब के मुख पर अब एक अजीब भाव आ गया। मैं निश्चित नहीं कर सका कि उनके चेहरे पर रौब था या अत्यधिक विनम्रता थी। सहज कहूं तो वह एक विचित्र गांभीर्य था। मैंने देखा, बाहर ही एक नौकर बैठा था। शायद ऊंघ रहा था।

मास्टर साहब ने उसके पास खड़े होकर खांसा, लेकिन उसपर जूं भी नहीं रेंगी, जैसे वह किसी दूसरे ही लोक में था।

"ओ रे मंगल !" मास्टर साहब ने खीझते हुए पुकारा।

"अन्नदाता !" मंगल चौंक उठा।

"कह दे आ गए।"

"किससे कह दूं !" फिर आंखें खोलीं और बोला, "अन्नदाता ! अन्न-दाता ! !"

मंगल भीतर गया तो मास्टर ने कहा, "अगर इसमें नशे की आदत न होती तो बड़ा अच्छा आदमी होता। पता नहीं इसे कैसे यह आदत लग गई। इस घर का यह बड़ा ही वफादार नौकर है। है भी यह बड़ा ही पुराना, बड़ा धार्मिक भी है। कहते हैं, साधुओं के सत्संग से सीख गया।" मास्टर ने 'सत्संग' शब्द कुछ व्यंग्य से कहा और बोले, "पहले इसका बाप बाबू अम्बा-परशाद के यहां था। वहीं इसका बचपन बीता। लेकिन नशे के मारे यह अब काम भी नहीं कर पाता। मुझे तो लगता है कि इसका बाप भी नशे-बाज़ था। क्यों प्रोफेसर साहब ! नशा कोई पुश्तैनी बीमारी तो नहीं है ?"

मैंने कहा, "जी, नशा भी कोई बीमारी है ! पर इसे आपने रखा क्यों है ?"

"कुंवर सा'ब की माताजी बीमार हैं इसलिए इसे लाना पड़ा।" मास्टर साहब ने कहा, "बचपन से घर में रहा है इसलिए बाबू साहब को इसपर यकीन भी है।"

मंगल लौट आया।

बाबू साहब खेमे के द्वार पर दिखाई दिए। बोले, "आइए प्रोफेसर साहब! मास्टर साहब आपका ज़िक्र करते थे। मैं कैसे आपसे न मिलता!" वे एक अजीब बड़प्पन से हंसे। उनके मुड़ने पर मैं भीतर गया।

"आप आए! हमारी आंखों पर चलें।" बाबू साहब ने अन्दाज़ से कहा, "बैठिए।"

मैंने कहा, "मैं भला किस योग्य हूं!" हम सब बैठ गए।

वे खूब हंसे। मैं मज़ाक ढूंढ़ने की कोशिश में लगा रहा।

"अरे शोभा!" कुछ देर बाद बाबू साहब ने पुकारा।

"हुज़ूर!" एक नौकर ने भीतर आकर कहा।

"चाय ले आ!" उन्होंने कहा, "गर्म लाना।"

मास्टर साहब बहुत विनीत से एक मुड़िया पर विराजमान थे।

मैंने देखा कोई तीन नौकर और भी थे। तब तो पूरा लवाज़मा लेकर आए थे जमींदार साहब। आखिर उनके आने की वजह क्या थी?

वे स्वयं बोले, "हमेशा बीमार रहती हैं वे। डाक्टर, वैद्य, हकीम हार गए। अब इधर सुना था कोई महात्मा हैं। उन्हींके लिए आए थे। यहां आकर पता चला कि वे तो चले गए कहीं। आप जानते हैं, जोगी और बादशाह दोनों एक-से होते हैं। सब परमात्मा की मर्ज़ी है।" यह कहकर वे एक बार खांसे।

बाबू साहब की पत्नी पर्दे में थीं। वे दूसरे खेमे में थीं। उनकी खिदमत में शायद वहां नौकरानी होगी, ऐसा मैंने सोचा।

तभी वहां एक ग्यारह-एक साल की लड़की आई, जिसने मुझे हाथ जोड़कर अदब से मुस्कराते हुए नमस्ते किया। मैंने मुस्कराकर सिर हिलाया। पिता के पास पड़ी एक कुर्सी पर धीरे से वह लड़की बैठ गई।

"मेरी बेटी कमला!" बाबू साहब ने कहा।

लड़की रेशमी साड़ी पहने थी। पतली-दुबली-सी थी। उसका रंग सांवला था और बाप की ही सूरत पर गई थी।

मैंने कहा, "पढ़ती हो?"

लड़की ने अदब से कहा, "जी हां।"

"किस क्लास में हो ?"

मास्टर साहब बोले, "बिटिया को मैं ही पढ़ाता हूं। घर पर ही।"

"हां साहब !" ज़मींदार साहब ने कहा, "स्कूलों में लड़कियां ठीक नहीं रहतीं। फिर शहर से हम कितनी दूर ठहरे ! पास रहते तो कोई तजवीज़ भी की जाती।"

भीतर से मंगल एक बच्चे को लेकर निकला। छोटा-सा था बच्चा। मंगल की नशेबाज़ आंखें अब अधखुली-सी थीं।

मैं चौंक उठा। सोचने लगा, 'इस बच्चे को मैंने पहले कहीं देखा है।'

कहां देखा है इसे मैंने ?

याद नहीं आया मुझे। दिमाग पर जोर भी दिया, लेकिन ध्यान नहीं आया।

मास्टर साहब ने कहा, "यही हैं हमारे कुंवर साहब !"

"अच्छा !" मैंने मुस्कराकर कहा और बच्चे के गालों पर उंगलियां फेरीं और कहा, "आइए !"

बच्चे ने मुझे टुकुर-टुकुर देखा और मुंह फेर लिया।

लगभग छः-सात महीने का बच्चा होगा। अच्छा बच्चा था।

ज़मींदार साहब अपने बच्चे के बारे में बताते रहे कि वह फतहपुर सीकरी के किसी फकीर की दुआ से पैदा हुआ था। पर जाने क्यों मेरे मन में कुछ बेचैनी-सी हो रही थी। रह-रहकर मन यही कहता था कि मैंने इस मूर्ख के हाथ में क्यों देखा था उसे !

मंगल बच्चे को बाहर लेकर चला गया।

चाय आ गई और मास्टर साहब ढालने लगे। बाबू साहब वैसे बड़े खुशमिज़ाज आदमी थे। तबीयत खुश हुई मिलकर। इधर-उधर की बातें होती रहीं।

फिर मैंने जाने की इजाजत मांगी।

बोले, "बैठिए न अभी ! हमारा तो यहां आना ही बेकार हो गया।"

बाबू साहब ने चलते वक्त उठकर विदा दी और खेमे के द्वार तक पहुंचाने आए। उनके सौजन्य से मैं प्रसन्न हुआ।

जब मैं लौटा तो राह में फिर लोहपीटे दिखाई दिए। उनकी रोटियां

पकने का समय हो गया था। जगह-जगह धुआं उठ रहा था। कोई-कोई कहीं गा रहा था।

मंगल बच्चे को लिए घूम रहा था।

मेरी इच्छा हुई कि मंगल से कुछ बातें करूं। जाने क्यों, उसके प्रति मेरा आकर्षण बढ़ चुका था।

मैंने कहा, "अरे मंगल !"

"हां हुजूर !"

"बच्चा कहां ले आया ?"

"बच्चा कहां है हुजूर ?"

"यह है तो !"

"ये तो कुंवर साहब हैं हुजूर।"

"हां, ठीक है।"

"हवाखोरी को लाया हूं हुजूर।"

मैंने मंगल को देखा। उसकी आंखें कुछ झुकी हुई थीं। मैंने उसी दिन अनुभव किया कि नशा मनुष्य के मुख को विकृत कर देता है। मैं यही अंदाज नहीं कर सका कि वह किस आयु का व्यक्ति था।

पुरानी वफादारी उसकी रग-रग में घुसी हुई थी। मालिक का बच्चा उसके लिए बच्चा नहीं था। कुंवर था। उसके मुताबिक उतना छोटा बच्चा भी हवाखोरी को ही आया था।

कमरे में आकर मैंने एक सिगरेट सुलगाई। बैठकर बाहर देखा।

मैं लोहपीटों के बारे में सोचने लगा। कैसे हैं ये लोग ? रेवत आ गया। मैं इन्हींके बारे में उससे पूछता रहा। उसने बताया कि उनके किसी पुरखे ने अहद किया था—जब तक हम अपना राज वापस न जीत लेंगे, तब तक शांति से नहीं बैठेंगे।

बड़ी दिलचस्पी आई मुझे। ऐसे भी लोग इस देश में हैं जो घुमक्कड़ बन गए हैं। शहरों में हमें पता भी नहीं चलता। अगर गाड़ियां निकल भी जाती हैं तो ध्यान नहीं देते। हम लोगों तक बात आती ही नहीं। आकाश में बादलों का गर्जन सुनकर हठात् मेरा ध्यान टूट गया।

मैंने ऊपर देखा।

रेवत ने कहा, "बरसेगा।"

बिजली चमकी।

"किसान मर जाएगा!" रेवत ने कहा।

मैंने सोचा, 'हम शहरों में कहते हैं—सड़क गन्दी हो जाएगी, कपड़े नहीं सूखेंगे। लेकिन गांव की समस्या ही दूसरी है। यहां इंसान की जिन्दगी खेत पर निर्भर है। फसल ठीक है तो यहां इंसान ज़िंदा है, खेत उजाड़ है तो इंसान भी बरबाद है।'

दूसरे दिन मैं फिर घूमने निकला। पाण्डुलिपियां देखने से रुचि हट-सी गई थी। इच्छा करती थी कि केवल चुपचाप बैठा रहूं या सिगरेट पीता रहूं। निस्तब्ध हरियाली पर मेघाच्छन्न आकाश से गिरती बूंदों को देखता रहूं या सफेद पंखों को हिलाकर उड़नेवाले बड़े-बड़े जलपक्षियों को मोतियों की माला-सा बिखरते-बनते देखा करूं। प्रकृति से कुछ भी आशा न करके चुपचाप उसे देखते रहने में भी कितना आनंद है! नीरवता में जैसे वायु भी बोलती है।

मेरा ध्यान हटा। सामने से लोहपीटे आ रहे थे। मैंने पहचाना। उस दिन जिन्हें देखा था वही दम्पती अपने बालक के साथ चले आ रहे थे। अचानक ही मुझे लगा जैसे कोई वस्तु मिल गई थी।

बच्चा······हां······बच्चा······

बाबू साहब का बच्चा इस लोहपीटे के बच्चे से कितना ज़्यादा मिलता-जुलता था। मुझे आश्चर्य हुआ। मन को एक प्रसन्नता भी हुई कि मैंने कैसी बात ढूंढ़ निकाली थी। एक-सा रूप-रंग, एक धनी के घर का बच्चा, एक गरीबों का।

रात हवा बढ़ गई। सारी रात डाकबंगला नौलक्खे की लम्बी-लम्बी सांसों से सनसनाता रहा। मैं आनंद से मुंह ढांककर सो गया। रात जब आंख खुली तब बाहर रास्ते भीगे हुए से दिखाई न देने पर भी, ऐसा आभास हुआ कि पानी पड़ चुका है। सुबह जब मैं उठा और बाहर आया तब बूंदें पड़ने लगीं।

मैं उस समय कुछ उदास-सा हो गया क्योंकि इस तरह घिरे रहना भी मुझे पसंद नहीं था। दिन में खाना खाकर मैं सो गया। जब जागा तब शाम

का अंधेरा-सा हो गया था। इतनी देर सो लेने के कारण अभी तक मुझमें सुस्ती बाकी थी।

रात हो गई थी। पानी बन्द था।

मैं बरामदे में खड़ा था। देखा कि एक आदमी डाकबंगले के अहाते में घुसा। कौन होगा इस समय ? और सो भी घुसा क्यों इस तरह ? रेवत तो नहीं था। फिर कौन होगा ?

"कौन, मास्टर साहब ?" मैंने पुकारा।

"जी हां, मैं ही हूं !" मास्टर का कांपता स्वर सुनाई दिया।

'मास्टर साहब ! इस वक्त ? क्यों ?' मन में आशंका-सी उठ खड़ी हुई। अंधेरा गहरा होता चला जा रहा था। प्रतीक्षा के क्षण मुझे बहुत ही लम्बे दिखाई दिए।

वह निकट आया।

"मास्टर साहब !" मैंने कहा, "इस पानी-कीचड़ में ? क्यों ? कोई परेशानी तो नहीं हो गई ?"

मास्टर बोला नहीं। भीतर आ गया। मैं भी उसके पीछे कमरे में घुसा। मास्टर कुर्सी पर गिर-सा गया और बैठकर रोने लगा।

"मास्टर साहब !" मैंने पुकारा। उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

मैं समझ नहीं पाया। वह ऐसे आवेश में था कि उसके हाथ कभी-कभी कांप उठते थे और फिर वह सिर हिलाने लगता था, मानो वह अपने भीतर ही किसीसे संघर्ष कर रहा था।

"क्या बात है मास्टर साहब ?"

कोई उत्तर नहीं।

केवल रोने की हलकी आवाज ही आई।

पुरुष साधारणतया रोता नहीं, लेकिन जब रोता है तब वह अपने-आपको भूल-सा जाता है। मास्टर साहब में ऐसा परिवर्तन देखने की आशंका भला मैं क्योंकर कर सकता था ? उनके इस व्यवहार से मुझे आश्चर्य हुआ, किंतु उससे भी अधिक एक अज्ञात भय हुआ। मेरा ऐसा इनसे क्या सम्बन्ध था जो ये यहां आ गए ? आखिर हुआ क्या ?

मैंने बात को रोकने के लिए कहा, "मास्टर साहब !"

इस वार मेरा स्वर तीखा था, शायद उसने भी इसका अनुभव किया।

"क्या बात हुई ?" मैंने पूछा।

"मंगल नशे में था।" मास्टर ने टूटे-फूटे शब्दों में कहा।

इसका तात्पर्य मेरे लिए पहेली के समान था।

"नशे में था ?" मैंने पूछा।

मास्टर ने धीरे से सिर उठाया, जैसे मुझसे क्षमा मांग रहा था। आंखों में आंसू लिए बोला, "हां।"

"वह नशे में कब नहीं रहता ?"

"पर आप···आप···"

"फिर ?" मैंने सांत्वना देते हुए कहा।

मास्टर मेरी ओर ऐसे देखने लगा जैसे वह बकरी था और मैं उसको बचा सकता था। बोला, "मालिक···"

उसका स्वर रुंध गया।

"क्या हुआ बाबू साहब को !" मैंने पूछा, "हालत खराब है उनकी ?"

"नहीं, नहीं !" वह बोला, ताकि मैं गलती न कर जाऊं।

"तो फिर कुछ कहिए न !"

मास्टर स्थिर हो गया।

फिर वही शांति छा गई।

"अब कहिए।"

"मेरा पेट फटा जा रहा है।" मास्टर ने अपराधी की भांति लैम्प के प्रकाश में इधर-उधर देखते हुए कहा।

"आखिर कुछ कहिए भी तो !" मैंने टोका।

मास्टर के नयनों में आतंक छलक आया। पता नहीं उनमें कितने द्वन्द्व एकसाथ थे। बोला, "क्या मैं आपपर पूरा भरोसा कर सकता हूं ?"

"मैं कब कहता हूं कि करिए ?"

"लेकिन न करूं तो करूं भी क्या ?"

"क्यों ? नहीं होता तो न कहिए।" मैंने कहा, "मैं नहीं जानता आज आपको मेरे पास क्या खींच लाया है। विश्वास एक समर्पण है, अपने व्यक्तित्व को दूसरे के व्यक्तित्व में घुला देना है।"

मास्टर के नेत्र एक विस्मय से फैल गए। मेरी ओर देखा और जैसे उसके हृदय में साहस लौट आया। मास्टर कहने लगा, "तो मैं आपसे नहीं छिपाऊंगा।"

"और सोच लीजिए।"

"मैं अब सोचना भी नहीं चाहता।" मास्टर ने उत्तर दिया और सुनाने लगा, "आज शाम को मंगल बच्चे को लेकर चल पड़ा। हवा तेज़ थी। वह नशे में था। मैं उस समय बच्ची को पढ़ाकर उठा ही था।"

मास्टर ने एक लम्बी सांस ली और कहा, "बाबू साहब बहुत मशगूल थे आज, परेशान भी थे, क्योंकि बाबू साहब के घर से आप तकलीफ में थीं। उनकी कराहों से मेरा मन भी कांप रहा था। शोभा को सरकारी डाक्टर बुलाने के लिए भेज दिया गया।" मास्टर ने रुककर इधर-उधर देखा और कहा, "घेरा घिरने लगा था। मंगल आज क्यों चला गया ? उसके जाने पर किसीने ध्यान नहीं दिया था।"

"कहां गया था वह ?" मैंने पूछा।

"बताता तो हूं।" मास्टर ने कहा। फिर कहना शुरू किया, "उसके चले जाने के कुछ देर बाद अचानक मुझे ख़याल आया। इस वक्त वह बेवकूफ उस छोटे-से मासूम बच्चे को लेकर जाने कहां घूम रहा होगा। इस कदर हवा थी कि मैं डर गया। कहीं बच्चे को कुछ हो न जाए ! मंगल का क्या जाएगा? मैं चुपचाप निकल पड़ा। मेरी ही तो आखिरी जिम्मेदारी थी।"

मास्टर सहसा रुककर मेरी ओर देखने लगा, जैसे आगे कहे या नहीं। मैंने साहस बढ़ाते हुए कहा, "फिर ?"

"रास्ते में लोहपीटों के बीच से गुजरा।"

"हूं। आप बेकार की बातों में समय क्यों बिगाड़ रहे हैं ?" मैंने कहा, "अपनी बात कहिए।"

"एक औरत रो रही थी।" मास्टर ऐसे कहता रहा, जैसे उसने मेरी बात सुनी ही नहीं थी। वह किसी ध्यान में तन्मय था। उसके नेत्र स्थिर-से थे, जैसे जीवन के बीते हुए वे क्षण पत्थर की तरह भारी थे। उसने कहा, "मर्द कहता था : बच्चा है, मिल जाएगा।"

"मैं ठिठक गया," मास्टर ने सांस लेकर कहा, "लोहपीटों की उस बात से जैसे मेरे रोंगटे खड़े हो गए। पूछा, 'कितना बड़ा बच्चा खोया था? उस लोहपीटे ने कहा, 'भैयाजी ! छः-सात माह का बच्चा था।' प्रोफेसर साहब ! मुझे काटो तो खून नहीं। पूछा, 'किसके पास था ?' एक औरत बोली, 'मेरे पास था।' और यह कहकर वह रोने लगी। मैंने पूछा, 'कौन ले गया ?' औरत यह सुनकर फिर रोने लगी, 'हाय मेरा बच्चा खो गया !' वह स्वर उस समय मेरे मन पर न जाने क्यों हथौड़े की-सी चोट करने लगा। मर्द बोल उठा, 'कौन जाने ?' अब मर्द और औरत में बातें होने लगीं।

" 'मेरा बच्चा मुझे ला दे !'

" 'कहां छोड़ आई थी तू ? बस रोती ही रहेगी कि कुछ बोलेगी भी?'

" वह रोती रही।

" 'तू अकेली गई थी ? तेरे साथ कौन था ? बोलती क्यों नहीं ?' पुरुष का स्वर कर्कश हो उठा।

" 'लकड़ी बीनने गई थी।'

" 'बच्चा किसके पास था ?'

" 'मेरे पास।'

" 'फिर ?'

" 'उसे लिटाकर लकड़ियां बीनने लगी। अंधेरा हो चला। बघेर की गुर्राहट सुनी तो भाग चली मैं। जब लौटी तो नहीं मिला।'

" वह फिर हिचकियां लेकर रोने लगी।"

यह कहकर मास्टर साहब ने कहा, "प्रोफेसर साहब ! इतना सुनते ही मेरे नीचे से धरती खिसक गई। मैं स्तब्ध रह गया !"

"फिर ?" मैंने आतुरता से कहा।

मास्टर फिर कहने लगा, "उस स्त्री का करुण क्रन्दन सुनकर मैं घबरा गया। तब वे रोने-पीटने लगे। मुझे एक ही चिन्ता थी। पूछा, 'बघेर किधर था ?'

" 'उधर,' स्त्री ने कहा। यह सुनकर तो मुझमें से हिलने की भी शक्ति चली गई। साहस बांधकर मैं सीध में चल पड़ा।"

मास्टर का गला भर आया।

मैंने उसका कंधा पकड़कर कहा, "फिर क्या हुआ ?"

"नौलक्खे को पार करते ही मुझे बदहवास मंगल मिला।" मास्टर ने फिर कहा, " वह मुझे देखकर चुप खड़ा हो गया। वह अकेला था। मेरा रोम-रोम कांप उठा। मैंने कहा, 'क्या कर रहा है तू यहां ?' वह कुछ नहीं बोला। कांप रहा था वह। मैं चिल्लाया, 'बोलता क्यों नहीं ?'

" पर उसने उत्तर नहीं दिया। मैं झुंझला उठा। आखिर इसपर आज कितना नशा चढ़ गया था। वह फटी-फटी आंखों से मुझे देखता रहा।

" प्रोफेसर साहब ! उसका वह मौन मुझे असह्य हो उठा। मैंने उसको झकझोर दिया और ज़ोर से पुकारा, 'अरे बोल कम्बख्त !···कुछ बोलता क्यों नहीं ?···'

" तब उसके मुंह को मैंने खुलता हुआ देखा। वह जैसे कुछ कहना चाहता था पर आवाज़ नहीं निकलती थी। आखिर—'कुंवर साहब···' बस इतना कुछ स्पष्ट सुन पड़ा।

" 'क्या हुआ बच्चे को···?' मैं फिर चिल्लाया।

" तब मुझे लोहपीटों की बात याद आई। याद आया कि यह तो बच्चे को लेकर आया था। अब कहां था वह बच्चा ?···यह तो अकेला खड़ा था···और मैं हैरान रह गया यह देखकर कि वह रोने लगा···

" मैं उसे देखता रहा···स्तब्ध···न जाने मुझे क्या हो गया···वह मेरे पांवों पर गिर पड़ा···फिर भी मैं नहीं बोला···मुझे यही सुनाई पड़ा, 'बघेर मेरे सामने से···'

" 'बघेर ?'

" 'हां मास्टर सा'ब !'

" 'मंगल !!'

" 'मास्टर सा'ब !'

" 'बघेर !'

" 'मैं मर गया हुज़ूर !···'

" मैं स्तब्ध !···

" 'मर गया मैं तो···क्या करूंगा अब···जरा सुस्ताने बैठा था···नशा

लग गया···फिर देखा तो सब खतम !···'

" सन्नाटा। उसका रोना गूंजता रहा।

" हठात् जैसे मैं जाग्रत् हो गया। मैंने कहा, 'मंगल !' मैं अपने स्वर को सुनकर स्वयं चौंका, 'किधर गया ? जल्दी बता !'

" मंगल खड़ा हो गया।

" 'उधर !···'

" सामने अंधकार था···

" मैं भागा···

" इधर देखा···मंगल पीछे भागा···

" उधर देखो···मंगल की पगध्वनि पीछे ही थी···

" लेकिन कुछ नहीं था···

" प्रोफेसर साहब !···अंधेरा···कितना डरावना होता है यह अंधेरा ! ···अंधेरा···अंधेरा···अंधेरे ने बढ़कर झुकी डालियां पकड़ ली थीं···अंधेरे ने प्रकृति को पी लिया था···सब कुछ अंधेरा था···मेरे तन में···मेरे मन में···एक विराट अंधकार···जैसे त्रिभुवन में कहीं भी उजेला नहीं था···

" मेरे सामने अनेक चित्र घूम गए···

" 'मां सुनेगी···बच्चे की मां !'

" 'बच्ची अपने भैया को ढूंढ़ेगी !···'

" 'बाबू साहब···बाबू साहब···'

" 'और मैं···'

" 'कितने अरमान···'

" 'कितना इंतजार···'

" 'बीमार उनकी घर से सुनेंगी···बच्चे की मां···'

" मैं कहां जाऊं···मैं ही तो उन्हें वैर लाया था···अपने इंतजाम में··· मैंने ही तो कहा था, '···वहां मेरे रहते आपको कोई दिक्कत न होगी··· मंगल सब कर लेगा।···' कैसे दिखाऊंगा उनको अपना मुंह !···'

" बाबू साहब पूछेंगे, 'मेरा बेटा कहां है ?···'

" और···

" और···

" मैंने डाली थाम ली।

" मेरा सिर घूम गया।

" प्रोफेसर साहब ! मैंने कहा, 'सब कुछ खतम हो गया···अंधेरा छा गया है···काला, स्याह अंधेरा···तू जा मंगल···तू चला जा !···मेरे लिए अब कुछ नहीं रहा !···'

" अंधेरे में मेरे शब्द जैसे ठोस पेड़ बने खड़े थे···

" वह घुटनों के बल बैठ गया···

" 'मंगल !···जा···मुझे मत छू···लौट जा···कोई पूछे तो कहना कि मास्टर को अंधेरा निगल गया···किसीसे मत कहना···'

" 'मैं मर जाऊंगा मास्टर सा'ब !···' वह बोला।

" मैंने कहा, 'सब मर गए मंगल !···'

" मंगल ने सिर पीट लिया।

" 'मर क्यों न गया मैं !···'

" 'तू अभी जी रहा है मंगल !···'

" 'मैं मर गया मालिक !···'

" 'सब मर गए मंगल !···'

" हठात् मुझे एक बच्चे के रोने की आवाज़ सुनाई दी।

" 'मालिक !' मंगल चीख उठा।

" मुझे विश्वास नहीं हुआ। क्या यह मेरी स्मृति में कोई रोदन गूंज रहा था ! नहीं, यह तो वास्तविक ही था। मैं भागा।

" पीछे मंगल था।

" अंधेरे में कुछ दिखाई नहीं देता, प्रोफेसर साहब ! लेकिन कैसा भी घोर अंधकार क्यों न हो, उसमें भी अंधेरा अपनी पर्तें बनाता है···आहट मेरे लिए उजाला बन गई···और···रुका···किन्तु देखकर रुक गया मैं···

" मंगल ने कहा, 'यह रहा !···' मैंने माचिस जलाई।

" चिथड़ों में एक बच्चा !···

" 'किसका बच्चा है यह ?···' मैंने सोचा।···

" 'वही बच्चा ?···'

" 'यह वह नहीं है !'···

" 'मंगल, यह रहा बच्चा !'···मैंने कहा।

" 'मां इसे ढूंढ़ रही है।···' मंगल कह उठा।

" 'हम बच गए मंगल !'

" तीली अब आधी जल चुकी थी।

" 'मां के जिगर का टुकड़ा मिल गया मंगल !···' मैंने दुहराया, 'मां के जिगर का टुकड़ा मिल गया मंगल !···'

" मंगल स्थिर रह गया।

" मैंने पूछा, 'क्यों देर कर रहा है मंगल ! उठाता क्यों नहीं इसे, देरी हो रही है···'

" 'लेकिन मालिक !···' उसने अटककर कहा।

" 'क्या है ?' मैंने पूछा।

" 'यह बच्चा अपना नहीं।'

" 'मंगल !' मैंने कहा।

" 'हां मास्टर सा'ब !' उसने कांपते हुए पूछा।

" 'इस बच्चे को अगर···' मैं कह नहीं सका।

" वह देखता रहा। तीली बुझ गई। अंधेरा और गहरा हो गया।

" 'यही अपना है अब मंगल···' मैंने कहा।

" 'यह कैसे हो सकता है मास्टर सा'ब ! मर जाना अच्छा है !···' उसने कहा।

" 'पर हमें बदलना होगा ही।' मैंने फिर तीली जलाई।

" 'होगा ही !' उसने दोहराया। उजाला हो गया।

" 'इसकी मां सहारा पाएगी।' मैंने फूत्कार किया, 'समझा···'

" 'मालिक···यह पाप है।' उसने कहा। उजाला कांपने लगा।

" 'मंगल, हमें नमक अदा करना होगा।' मैंने कहा।

" वह जैसे सुन्न पड़ गया।

" 'नमक !' मंगल ने कहा। उजाला फिर बढ़ गया।

" मैंने कहा, 'देर मत कर !···ऐसी भगवान की आज्ञा है। समझा···जंगल तुझे बच्चा दे रहा है···वरना तुझे जेल···'

" 'मालिक !' वह पुकार उठा। तीली फिर बुझ गई।

" 'मुझे सदा के लिए यह भूल जाने दे कि मैं आज कुछ पाप कर रहा हूं।' मैंने कहा, 'इस पाप से तू बच जाएगा।' मैंने फिर तीली जलाई।

" 'और आप भी ?' मंगल ने कहा।

" मंगल स्थिर हो गया। रोशनी बढ़ गई।

" 'बच्चा परमात्मा ने दिया है, मंगल! वरना जंगल में बच्चा हमें पड़ा कैसे मिलता ? सोचकर देख।' मैंने फिर कहा।

" 'ठीक कहते हैं, मास्टर साहब।' उसने कहा।

" 'मगर इसके चिथड़े···' तीली फिर बुझ गई। अंधेरा फिर और भी गहरा हो गया। तब मैंने बच्चे को नंगा कर दिया। बच्चा रो उठा। वह मासूम पुकार उस अंधकार में जैसे परमात्मा की पुकार थी—अबोध और पवित्र! जीवन की पुकार थी···कैसे घने अंधेरे में वह अकेला ही अभी तक जीवित था!···उसको कौन बचा रहा था ?···

" मंगल ने उसे छाती से चिपकाकर अपना साफा खोलकर उसे उसमें लपेट लिया और थपथपाने लगा।

" 'मालिक!' उसने बिलकुल होश के स्वर में कहा, 'अब तुम ही मालिक हो!···'

" 'मंगल, इसे छिपाकर ले जा और कपड़े पहना दे···' मैंने कहा, 'देख किसीको पता न चले, और किसीको शक न हो। पीछे के रास्ते से जाना। पूछें कि अंधेरे में कहां था बच्चे को लेकर···क्या कहेगा तब ?··· कहना, मैं खेमे के पीछे ही था, ऊंघ रहा था···समझ गया···ज़रा भी चूक हो गई तो याद रखना···बस मां का डर है···वह न पहचान ले···'

" 'यही होगा मास्टर सा'ब।' मंगल ने कहा, 'मां से नहीं छिपेगा कुछ। लेकिन वे शक क्यों करेंगी भला ? बीमार वैसे ठहरीं। मास्टर सा'ब, मुझे डर लगता है!'

" 'हिम्मत रख।' मैंने कहा, 'अगर डर गया तो मारा जाएगा।'

" जब वह चला गया, मैं जड़ हो गया।"

मास्टर चुप हो गया।

"फिर ?" मैंने पूछा।

"कब तक खड़ा रहा पाता नहीं।" मास्टर ने कहा।

मैं अधीर हो रहा था। पूछा, "फिर आप आ गए ?"

"बूंदें गिरने लगी थीं।" मास्टर ने कहा।

रात और गहरी हो चली थी। हवा अब भी बाहर सांय-सांय कर रही थी। अब भी अंधकार छाया हुआ था। मास्टर चुप हो गया।

"मास्टर साहब !" शायद मैं ही बोला।

मास्टर ने उत्तर नहीं दिया।

"आप सुन नहीं रहे हैं ?"

"मुझे कुछ सुनाई नहीं दे रहा है प्रोफेसर साहब !"

"सच ?" मैंने कहा, "मास्टर साहब ! क्या यह ठीक हुआ ?"

"क्या ?"

"बच्चा बदल दिया गया है।"

"जो हो, बच्चा ठाठ से पलेगा।"

"आप जानते हैं वह बच्चा किसका है ?"

"नहीं।"

"आप झूठ कहते हैं। वह लोहपीटे का है।"

"जी हां, इनके बहुत होते हैं। एक न सही।"

"हर ज़िन्दगी का अपना एक मोल होता है, मास्टर साहब ! आप कभी सोचते हैं ? इसका क्या नहीं है ?"

"लेकिन बाबू साहब बच जाएंगे।"

"और लोहपीटा ?"

"वरना बेचारा मंगल मारा जाता।

"और शायद आप भी !"

"हां, शायद।"

"ठीक है, लेकिन," मैंने कहा, "वह स्त्री जो अपने दुधमुंहे को खो चुकी है ?"

"दुधमुंहे को···"

"जी हां।···"

"वह बच्चा मां के बिना रहेगा।"

"सोचकर देखिए !"

"प्रोफेसर साहब ! कैसा भयानक अंधेरा छाया हुआ है !···"

"आपको लग रहा है न ?···"

"मुझे कुछ भी नहीं सूझ रहा है।···"

"सब कुछ काला हो गया है न ?" मैंने तीखे स्वर में कहा।

"सच ! क्या मैंने पाप किया है ?" मास्टर ने पूछा।

"हां, पाप !" मैंने कहा, "पाप ! भयानक पाप !"

"तो मैं रहस्य खोल दूं ? मुझे स्वयं से घृणा हो रही थी मेरे दोस्त ! इसीलिए मैं आपसे पूछने आया था। मैं अपने मोह में फंस गया हूं न ? मुझे शक्ति की आवश्यकता थी। आपने मुझे साहस दिया है। एक का मूल्य दूसरा क्यों चुकाए ?"

मास्टर बाहर बढ़ा।

"कहां जाएंगे आप ?" मैंने टोका।

"कहां जा रहा हूं मैं !" मास्टर ने कहा, "वहीं जहां मैं 'मैं' न रहूं !"

तभी लोहपीटे आते दीखे।

मास्टर को जैसे सांप सूंघ गया।

बच्चे के कपड़े लिए वह चिल्लाती जा रही थी, "हाय मेरे बच्चे को बघेर ले गया रे···हाय···ये रहे उसके कपड़े !···"

मास्टर की मुठ्ठियां भिच गईं।

सब गम्भीर थे वे लोहपीटे।

मैंने मास्टर के कन्धे पर हाथ रख दिया।

मास्टर लौटा।

हमने एक-दूसरे की ओर देखा। मास्टर ने कहा, "किस तरकीब से मैं बच्चे को इन्हें लौटा सकता हूं ?"

"बहुत देर हो गई।" मैंने कहा।

"क्यों ?"

"मंगल ने कपड़े बदलकर बच्चे को डेरे में सुला दिया होगा। अब आप लाएंगे कैसे ? अब वैसे ही लौटाएंगे तो लोहपीटे आपको कत्ल भी कर दें तो ताज्जुब नहीं। मां ने उसे शायद दूध भी पिलाया होगा। वह रोया भी होगा। लेकिन भूख में पी गया होगा। हो सकता है कि अपनी सफाई में

मंगल ने अब वह बच्चा बाबू साहब के सामने भी पेश किया होगा...''

''उसकी मां आज दूध पिलाने लायक, होश में नहीं है।'' मास्टर ने कहा।

''तब शीशी से दूध पिलाया गया होगा। मां के दूध पीने से छूटकर कोई भी बच्चा रो सकता है। नहीं, नहीं, मास्टर साहब, अब आप उसे ला भी नहीं सकते!''

''तब मैं क्या करूं?'' मास्टर ने कहा, ''मैं परमात्मा के सामने पापी हूं प्रोफेसर साहब! मैंने बच्चा बदल दिया है। पर...पर...नहीं, नहीं, प्रोफेसर साहब...अगर यह बात खुल गई तो मुझे जेल हो सकती है!...''

''शायद!''

''और मेरे बच्चे...!''

मैंने कहा, ''शायद बच्चा उड़ा लिया जा सके। अगर बाबू साहब के घर से देखा तो क्या वे बच्चे को नहीं पहचान पाएंगी? क्या आप समझते हैं कि मां नहीं पहचानेगी अपना बच्चा? अगर सवाल उठ गया तो! मंगल आपपर रख देगा सब कुछ।''

मास्टर ठिठका।

''चलिए। आप ठीक कहते हैं।'' उसने कहा।

''कहां?''

''डेरे पर।''

''क्यों?''

''कसूर मंगल का है, मैं क्यों पाप करूं?''

जब हम डेरे के पास पहुंचे, भगदड़ मच रही थी।

मास्टर फिर रुका।

''क्यों?'' मैंने पूछा।

''शायद वे लोग जान गए हैं।''

''फिर भी क्या है?'' मैंने कहा।

बाबू साहब बाहर आ गए। मास्टर का मुख जैसे रक्तहीन हो रहा था। मैं भी स्तब्ध था। रात का अंधेरा भी अब निस्तब्ध-सा हो गया था। बाबू साहब जैसे अपने मन को अपने वश में करना चाह रहे थे। उन्होंने पुकार-

कर कहा, "आ गए आप ? मुझे आपका बड़ा इन्तज़ार था। कहां चले गए थे मास्टर साहब ?"

मास्टर उत्तर नहीं दे सका।

बाबू साहब ने फिर कहा, "मैंने आपको तलाश कराया था। डाक्टर साहब जब चले गए तो वे भी चली गईं।"

मैंने देखा। मास्टर लड़खड़ा रहा था।

मैंने उसे पकड़ लिया।

"मास्टर साहब !" मैंने फुसफुसाकर कहा।

मास्टर वहीं बैठ गया।

बाबू साहब ने कहा, "कौन ? आप भी आए हैं प्रोफेसर साहब ! आप आए हैं। देखिए वह लड़की, कैसी बेहाल हुई जा रही है ! उसे कुछ तो समझाइए न ! परमात्मा की मर्जी पर क्या किसीका बस चलता है ?"

हम लोग चुप रहे।

बाबू साहब भीतर चले गए।

मैंने धीरे से मास्टर का कंधा हिलाया।

मास्टर उठा।

"आपने सुना ?"

"क्या ?"

"नहीं सुना ?"

"सुना तो।"

मैं बोला, "अब क्या होगा ?"

वह फटी आंखों से मुझे देखता रहा।

फिर बोला, "जो भगवान चाहेगा वही होगा !"

मैंने कहा, "अब वह खतरा नहीं रहा।"

"हां।" उसने कहा, "अब मां नहीं रही।"

मास्टर सोचता रहा।

"लेकिन बिना मां के बच्चा कैसे रहेगा ?"

उसने कहा, "शीशी।"

"जब कि मां ज़िन्दा है।"

"ज़िन्दा है ?"

मैं चुप रहा।

मास्टर ने कहा, "मंगल पालेगा।"

"मंगल !"

"क्योंकि उसे ज़िन्दा रहना है।"

"और वह मां !"

"वह मां !"

"हां, वही।" मैंने याद दिलाया।

"वह मां !…" मास्टर ने फिर दुहराया। मैं पत्थर-सा खड़ा रहा। हठात् जैसे क्या हो गया कि आवेश में भरकर मास्टर ने मेरे पांव पकड़ लिए और कहा, "तो आप ही एक काम कीजिए।"

"क्या ?"

"बाबू साहब से सारी घटना कह दें। लोहपीटों को बुला लें। मैं यहीं तैयार हूं। जो होगा देखा जाएगा। चले जाइए प्रोफेसर साहब। क्या आप इंसानियत की खातिर इतना भी नहीं कर सकेंगे ? मेरे सामने और कोई रास्ता नहीं है। जाएंगे ?"

मैं उत्तर नहीं दे सका।

"चले जाएं प्रोफेसर साहब !" मास्टर गिड़गिड़ाया, "मेरे लिए कहीं स्थान नहीं है ! ऊपर से भगवान देख रहा है। वह क्या मुझे छोड़ देगा ?"

मैं फिर भी नहीं बोल सका। खेमों में सन्नाटा छा रहा था। लड़की का करुण स्वर गूंज रहा था, तभी मास्टर साहब ने उठकर कहा, "नहीं जाएंगे आप ? तो शायद भगवान की यही मर्ज़ी थी।"

मैं भी इसी बात को सोच रहा था। शायद होनहार यही थी, वरना ऐसा होता ही क्यों ? तब मैं पीछे हटकर लौट आया। जितना सोचता था, यही ठीक लगता था। क्या हो गया था मुझे तब ? क्यों थी मुझमें ऐसी निर्बलता ? इसलिए कि मास्टर ने मुझपर विश्वास किया था और मैं इस विश्वास के साथ घात नहीं कर सकता था ?

बूंदें पड़ने लगी थीं। अंधेरा घुप था। बिजली चमकी। मैं आगे बढ़ा। भारी था हृदय, व्याकुल थी आस्था। अंग-अंग मेरे जैसे सुन्न पड़ गए थे।

समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था, जैसे सब जगह केवल अंधेरा ही रह गया था।

गाड़ियों पर सिरकी के जोड़े चढ़ गए थे। लोहपीटों के बीच से जब मैं निकला, पांव कांपने लगे। उस क्षण मुझे लगा जैसे मैं ही उनके बच्चे का चोर था।

पुरुष गाड़ी के पास बैठा था।

औरत रो रही थी।...

मैं वहीं कुछ ठिठक-सा गया।...

वह भागी, पर मर्द ने उसे पकड़कर कहा, "बाघ ले गया उसे बावरी! अब वह वहां नहीं है...तू कहां जा रही है?..."

मैं डाक बंगले पर पहुंचकर चारपाई पर बैठ गया। पता नहीं, मुझे क्या लग रहा था। यह मेरे देखते-देखते क्या हो गया था। मैंने सोचा, 'मैंने कुछ नहीं किया है, फिर भी मुझे इसकी इतनी चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है?'

बाहर तूफान सूं-सां कर रहा था। भयानक अतल शोर घहरा उठती थी। तब मुझे उस तूफान में भी करुण स्वर सुनाई देने लगा। कौन रोता था यह! बच्चे की मां! असली मां! मैंने सिगरेट सुलगा ली, किन्तु मुझे मां का वह हाहाकार दिशाओं में फैलता हुआ-सा सुनाई देता रहा।

'क्यों न मैं अब भी कह दूं!'

'नहीं, समय नहीं रहा।'

'क्यों?'

मेरे मन ने कहा, 'नहीं, शर्मा, नहीं!'

'क्या नहीं?' किसीने पूछा।

'तुझे कोई लाभ है क्या?'

'कोई नहीं।' 'तो फिर तुझे इतनी आतुरता दिखाने की ज़रूरत ही क्या है? सब अपना-अपना भाग्य लाते हैं।'

मैं उठ बैठा।

फिर ध्यान आया, 'यह जो मां है, इसे कितने दिन लगेंगे यह बात भूलने में, क्या वह भी इसे टाल सकती है?'

तभी मास्टर की सूरत मेरी आंखों के सामने से निकल गई। मैंने उस छवि को मन से पकड़ना चाहा, क्योंकि मैं उससे कुछ निकटता स्थापित करना चाहता था। पर ज्यों-ज्यों मैंने प्रयत्न किया, मैं असफल हो गया। बार-बार यही मन से टकराता था, 'बच्चे का जीवन कितना सुधर जाएगा! उसे इस जीवन में अन्यथा सुख कैसे मिल सकेगा!'

मैं नहीं समझ सका कि सुख के रास्ते पर पहुंचे को मैं किस तरह दुःख के मार्ग पर डाल दूं। इसका मेरे पास क्या साधन था?

रेवत घुसा।

"हुज़ूर, खाना ले आऊं?"

"नहीं।" मैंने कहा।

"हुज़ूर, तबीयत ठीक नहीं है?"

"हां, आज कुछ ऐसी ही है।"

"सर्दी भी बहुत है हुज़ूर! चाय ले आऊं?"

मैंने कहा, "रेवत!"

स्वर का परिवर्तन सुनकर उसने चौंककर देखा।

"वह जो औरत रोती है···।"

"बच्चे को बघेर ले गया उसके हुज़ूर।···"

"क्या नाम है उस औरत का? क्या नाम है उसके मर्द का?"

"मर्द का नाम तो मोती है हुज़ूर! औरत का नाम···" उसने सोचते हुए कहा, "शायद···कुछ है तो ज़रूर···हां···उसका नाम है···हुज़ूर, उसका नाम है लाली! क्यों हुज़ूर?"

"कुछ नहीं, कुछ नहीं," मैंने कहा और मन ही मन निश्चय किया कि कल सुबह किसी तरह उसे बता दूंगा। बच्चा बिचारा मां के दूध बिना कैसे मानेगा?

रात बड़ी देर तक मैं जागता रहा। तूफ़ान बाहर चलता रहा। हवा के मारे सारी प्रकृति जैसे कांप रही थी।

पता नहीं मैं कब सो गया।

सुबह मेरी आंख तब खुली जब रेवत ने पुकारा, "हज़ूर! चाय आई है।"

मैं उठ बैठा।

बाहर निकला।

देखा मैदान साफ था।

"मोती कहां गया ?" मैंने पूछा।

"हुज़ूर ! गाड़ियां रात को ही चली गईं।"

"रात को ही ?"

"आंधी-पानी था। वारदात हो गई थी। उनके मुखिया ने जगह को असगुनी माना और सब चले गए।"

"कहां गए ?"

"अब हुज़ूर ! यह तो मुझे क्या पता ?"

मैंने देखा कि मौका हाथ से निकल चुका था।

इसके बाद मैं मास्टर से भी नहीं मिल सका। वह चला जा चुका था। एक बच्चा कहीं से कहीं पहुंच गया था। मेरे सामने ही कितना बड़ा नाटक हो गया था ! मैं देखता का देखता रह गया और सब कुछ मेरे सामने हो गया। मैं देखकर भी कुछ नहीं कर सका।

मेरा मन फिर पुरानी किताबों में भी नहीं लगा। लश्करी के मन्दिर में कुछ एक किताबें देखीं, पर कुछ विशेष नहीं निकलीं।

बार-बार सोचता था, 'क्या यह ठीक हुआ ?'

'नहीं।' कोई भीतर से पुकारता।

'बच्चा कितने आराम से रहेगा !' कोई उत्तर देता।

पर भीतरवाला कहता, 'यह झूठ है ! अपने-आपको धोखा मत दे। क्या गरीब को अपना बच्चा पास नहीं रखना चाहिए ?'

मैं उत्तर न दे पाता।

तब मन कहता, 'क्या मैं भी पापी हूं ?'

'हां।' जवाब सुन पड़ता।

'क्यों ?'

'क्योंकि तूने सब कुछ जान-बूझकर भी कुछ नहीं कहा।'

'पर क्या मेरे कहने से काम चलता ? क्या मेरी बात मान ली जाती ?

क्या बाबू साहब मान जाते ?'

'शायद नहीं। शायद हां।'

'फिर मैं दोषी क्यों हूं ?

फिर कोई उत्तर नहीं आता।

मैं अधिक नहीं टिक सका। वैर मुझे काटने लगा। मैं बयाने लौट गया।

२

सन् १९४३ ई०।

वैर आने पर मुझे वह सब फिर क्यों याद आ गया ?

याद एक धागा है जो काल के चक्र पर निरन्तर खिंचता ही चला जाता है, कभी जब टूट जाता है तो हम कोई नई रुई रूपी भाव जोड़कर धागे की फिर मरम्मत कर लेते हैं।

जीवन भी किस तेज़ी से भागता है। कल के पौधे आज पेड़ बन गए हैं। किसको ध्यान रहता है कि जीवन की प्रत्येक इकाई कितना संघर्ष करके पनपती है ! हम ही संघर्ष नहीं करते, जो ज़िन्दा है, वह अपने लिए जाने या अनजाने लड़ा ही करता है।

देखते ही देखते आठ बरस बीत गए और वैसे देखा जाए तो कुछ भी नहीं हुआ। आठ वर्ष का कोई मूल्य नहीं होता, लेकिन इतने दिनों में क्या से क्या नहीं हो जाता ? परिवर्तन के लिए काल की कोई निर्धारित मात्रा है या वह कितना ही कभी भी हो सकता है ?

और अब फिर वैर आना पड़ा। और अब की बार मैं जिस वैर में आया हूं, वह समय के आयाम में आठ साल आगे खिसक चला है, और वैसे भी उसके प्रति मेरा एक नया दृष्टिकोण है। तब मैंने उसे बरामदों में से देखा था, अब की बार मैं उसकी धूल में बैठा हूं।

हुआ यह कि क्रांतिकारियों का संपर्क रंग लाया। मैंने तो साहित्य के प्रति ही अपनी रुचि रखी, किंतु देश में भरपूर हड़कंप था। उससे मैं बचकर कैसे रह सकता था ! मुझे यह ध्यान सदैव रहा है कि मैं साधारण लोगों की तरह मरने-जीने को नहीं हूं। इसी विचार से मैंने शादी नहीं की। मैं जानता हूं कि वह एक घिराव है। उस विचार से ही मेरा मन ऊबता था

कि मैं केवल अपने परिवार के लिए जिऊं। जाने क्यों, मेरी भावना थी कि मैं संसार में अपनी सत्ता को सार्थक सिद्ध करूं। और जो कुछ है, यह सब उसीका फल है।

राजनीति की दिलचस्पी बढ़ती गई। मेरे यहां गुप्त रूप से छिपकर रहनेवाले अण्डर ग्राउण्ड राजनीतिक कार्यकर्ता आते रहे। वैसे देखा जाए तो अविवाहित व्यक्ति के घर लोग जिस आज़ादी से आते-जाते हैं, वैसा गिरस्ती के रहते नहीं हो सकता। यही मेरा हाल हुआ।

सन् १९४२ ई० का आन्दोलन शुरू हुआ। रेल की पटरियां उखड़ीं, बिजली के खंभे तोड़े गए, चारों ओर धूमधाम होने लगी। विस्फोट हो गया। हमारे नारों से आग बरसने लगी। भारत कांपने लगा। भीड़ें टूटतीं, जयजयकारों के उठने पर गोलियां बरसने लगीं। तार कटने लगे और फिर चारों ओर दारुण विप्लव गूंजने लगा। सीखचों के पीछे से लोहे की जंजीरें खनखनातीं और लोगों में गर्जन उठते।

मैं भी उस तूफान में बह गया। कर्तव्य की पुकार थी। जवाब किसी और को देना हो तो काम टाला जा सकता है, लेकिन जब पूछनेवाला तुम्हारा अपना मन हो, और उसे ही तुम्हें उत्तर देना हो तो क्या तुम उसे धोखा दे सकते हो ?

और तब पुलिस पीछे लगी। एक तो वैसे ही खतरनाक समझे जानेवाले लोग मेरे यहां आते-जाते थे, फिर अब मैं खुद ही उनमें से एक बन गया तो भला मैं कैसे बचा रह सकता था ! मैं भी अपने बचाव में चौकस रहने लगा।

एक रात मैं पटरी उखाड़कर उठा कि मुझे अंधेरे में एक छाया-सी दिखाई दी। एक सिपाही मेरे पीछे आ रहा था। मैं एकदम उठा और फिर झुककर लेटकर सरका। कहीं सन्नाटे को बेधती हुई सीटी बज उठी जो दूर-दूर तक अपना डरावना स्वर फैला गई। मैं एक झाड़ी की ओट में जा पहुंचा। तब मैं भागा क्योंकि अब आहट की सीध में गोली लगने का खतरा नहीं रहा था। फिर भी कमबख्त पैर धोखा दे रहे थे, क्योंकि उनसे भागने में आवाज़ उठती थी।

रात हो चली थी गहरी और गहरी। भाग्य से मैं आक के पौधों के

बीच छिपने की जगह पा गया। आगे घने-घने पेड़ थे। मैं जब रुक गया तो सिपाही भी रुक गया।

अंधेरे में मैं एक मड़ैया में जा पहुंचा जो जीर्ण-शीर्ण-सी थी। वहां अंधेरे में से मुझे आहट हुई। डर हुआ कि कोई जंगली जानवर यहां न हो। जाने की सोच ही रहा था कि भीतर से किसीकी हलकी आवाज़ आई, "कौन ?"

"मैं हूं एक राहगीर।"

देखा, साधू महाराज थे।

"भागता क्यों है ?"

मैं उत्तर न दे सका।

बाबा ने देखा और कहा, "अंधेरे में नहीं दीखता।" माचिस जलाई और देखकर कहा, "अच्छा ! घबरा मत। बैठ जा बच्चा।"

मैं बैठ गया।

"चोरी की है ?"

"नहीं, तार-पटरी काटता था, विदेशी राज को खतम करने के लिए।"

"तो आहुति पड़ गई ?" उन्होंने सोचते हुए कहा, "भवानी ! आ रहा है वह समय ! क्या योंही पीढ़ी पर पीढ़ी यहां के बच्चे ऐसे ही लहू से भीगते रहेंगे ?"

मैं उस स्वर को सुनकर थर्रा गया।

"तू छिपना चाहता है ?" उन्होंने कहा।

"बचा लो बाबा।"

"तो ले यह पहन ले।" बाबा ने पास से एक गेरुआ कपड़ा मुझे देकर कहा। मैं कुछ क्षण निश्चय नहीं कर सका, पर अपने-आप मेरे हाथों ने कपड़े उतार दिए और गेरुआ वस्त्र पहना। बाबा ने मेरे तन पर राख मल दी।

फिर बाबा बोले, "बाल तेरे कैसे हैं ? अंगरेज़ी ? नहीं, वे साधुओं के से नहीं होते। ले यह जटाएं। इधर आ।"

बाबा ने अपने बड़े भारी जटाजूट के एक भाग से मेरा सिर सुशोभित कर दिया। फिर हंसे। मैं साधु हो गया।

"इस मड़ैया में एक साधू रहता है आनंदगिरी। समझा ? आनंदगिरी है तेरा नाम ! अब मैं जाता हूं।"

"कहां ? अपना स्थान मेरे लिए छोड़ते हैं आप ?"

बाबा ने कहा, "घर मत जाना अभी।" जैसे मेरी बात सुनी नहीं। फिर जैसे उन्हें याद आया, बोले, "साधु कहां जाएगा कौन जानता है। साधू का अपना स्थान कोई नहीं होता बच्चा !"

"आप ! देश के काम में इतनी मदद देते हैं बाबा···"

"अब तू भी बाबा ही है। समझा। हरएक से बात करने के पहले अपना रूप देख लिया करना।" बाबा हंसे। बोले, "बच्चा मैं भी पहले क्रांतिकारी था। जैसे तू आज साधू हुआ है, ऐसे ही कभी मैं हुआ था। परन्तु एक बार इस रूप में आने पर मुझे सब कुछ छोटा जान पड़ने लगा। फिर···फिर···उधर नहीं लौट सका मेरा मन···लेकिन तू लौट जाना। यह मार्ग बहुत कठिन है।"

बाबा चले गए।

थकान के मारे मुझे झपकी-सी आ गई।

सवेरे कई सिपाही वहां घूमने लगे। बाहर से देखते और प्रणाम करते। मैं निरासक्त-सा बैठा था। जी करता था कि कहीं अपने रूप को देखूं। हाथ-पांव शरीर को देख पाता था, परन्तु मुख देखने का साधन नहीं था। सिपाहियों ने देखा कि मैं ध्यान में दीवार से उठंगकर सहारा लिए था।

मैं धूनी पर था।

एक सिपाही ने झांका। आहट होने पर मैंने अपनी आंखें ज़रा-सी खोलीं।

"क्या है बच्चा ! इधर आ···जा धूनी ठंडी हो रही है, कुछ लकड़ी बीन ला···"

सिपाही बोला, "लाता हूं···" वह गया. दूसरा आया।

उसने कहा, "क्यों बाबा, क्या···"

"नहीं," मैंने कहा, "तेरी मुराद पूरी नहीं होगी। जिसे तू ढूंढ़ रहा है वह तो रुनकुते के आगे स्टेशन पर बैठा है···"

सिपाही ने आश्चर्य से देखा।

"ला," मैंने कहा, "कुछ गांजा है ?"

"नहीं है बाबा !"

"तो भाग जा !" मैंने कहा, "वरना तू भी पकड़ा जाएगा कि बलवाइयों से मिला हुआ है।"

सिपाही डरकर चला गया।

सब चले गए।

उसके बाद मैं उठ पड़ा।

तब मुझे वैर की याद हो आई और मैं पैदल ही चल पड़ा। कहीं तो दिन बिताने ही थे। नौकरी तो जा ही चुकी थी। लौटकर जाने पर गिरफ्तारी निश्चित थी। जानता था कि कांग्रेस में इस प्रकार तोड़फोड़ करनेवालों के प्रति कोई विशेष सम्मान भी नहीं था। अब तो आंधी में घास की तरह झुके रहना था।

वैर आने पर मुझे पुरानी बातें याद आने लगीं।

मनुष्य भी कैसा विचित्र होता है कि अपनी प्रत्येक परिस्थिति में वह सम्मान चाहता है ! विचार आने लगे।

तब मेरे क्या ठाठ थे ! मैं नाज़िम साहब का मित्र था। रियासत में अब तब से कुछ भेद नज़र आता था। तब यहां महाराज नहीं थे। अब वे लौट आए थे विलायत से। लोगों को लगता था कि अपना राज सूना नहीं है।

लेकिन अब मेरा गौरव और भी बड़ा था। तब मेरा परिचय दूसरे देते थे, अब मेरा रूप स्वयं मेरा परिचय था। क्योंकि प्रकट रूप में मैं सब कुछ छोड़ चुका था इसलिए सब मुझसे व्यवधानहीन सम्पर्क मानते थे।

यहां मुझे कोई नहीं जानता था। राख-मले शरीर और मुख को जब मैंने एक पानवाले के शीशे में देखा था तो मैं स्वयं अपने को नहीं पहचान सका था। दाढ़ी-मूंछों ने तो रंग ही बदल दिया था।

मैंने बयाने दरवाज़े के बाहरवाले विशाल बरगद के नीचे चामड़ के पास धूनी रमा ली। लेकिन साधु बनने पर मेरा इतिहास जाग उठा। मैं स्वतन्त्रता से हर जगह चला जाता और मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वैर एक बहुत ही प्राचीन बस्ती थी।

दिन में मैं एक बार भीख मांगने निकल पड़ता। हाथ में कमण्डलु ले लेता, मांगता किसीसे कुछ नहीं। अपने-आप स्त्रियां उसमें रोटी डाल देतीं। उन्हें मेरे प्रति श्रद्धा थी। जब भी कमण्डलु भर जाता तो लौट आता। मैं उनकी दृष्टि में पहुंचा हुआ था, क्योंकि कभी उनके सामने आंखें नहीं उठाता।

स्त्रियां सनीचर के सनीचर परिक्रमा देतीं गांव की। वे मुझे आटा देतीं, पर मैं नहीं लेता। मेरी मान्यता बढ़ गई।

सट्टा पूछनेवाले मुझे घेरने लगे और मुझे भी सतर्क रहना पड़ा।

एक दिन मैंने देखा कि एक परिचित-सा व्यक्ति सामने से आ रहा था। उसके हाथ एक सात-आठ साल का लड़का था। बिजली-सी कौंध गई मेरे दिमाग में। मास्टर ! और लड़का ! निकर और कमीज़ पहने। देखने को ही बड़े घर का लगता था।

मन ने कहा, 'देख ! तू क्या था और क्या हो गया, और यह लोह-पीटे का बच्चा अब कहां से कहां पहुंचा है !...''

मास्टर मेरे सम्मुख आ गया। उसने कहा, "बाबा डंडौत !"

"खुश रहो !" मैंने ऐसे कहा जैसे कुछ और सोच रहा था।

क्षण-भर भय हुआ कि कहीं मास्टर मुझे पहचान न ले। मैंने अधमुंदी आंखों से राख कुरेदी, धूनी के लक्कड़ हिले।

फिर मैंने अपनी चिलम में अंगारा रखा और जो दम लगाई तो झल्ल ऊपर तक उठ गई। मुझे नशा-सा चढ़ा और फिर मैंने चिलम औंधाकर कहा, "चांदी हो गई !..."

परन्तु मास्टर बड़ी श्रद्धा से बैठा था। मैंने बच्चे की ओर देखा। और मैं हंसकर उससे अपने-आप बोला, "कुंवर सा'ब आप गढ़ देखो। चामड़ पर पुरानी मूरतें रखी हैं। इसी गांव की हैं। उन्हें देखो।" फिर मैंने सिर हिलाया और कहा, "अलख निरंजन !..."

लड़का चला गया। उसके हटने पर मास्टर ने कहा, "बाबा !"

मैंने उसकी ओर देखा और कहा, "गांजा नहीं है तेरे पास ?"

मास्टर सकपका गया। बोला, "तो लाऊं महाराज ?"

"जा ले आ।"

मास्टर अनमना-सा उठा।

मैंने पुकारा, "बच्चा ! इधर आ।"

लड़के ने मुड़कर देखा और कहा, "क्या है बाबा ?"

"यहां आ बेटा !"

वह मास्टर को देख उठा।

मैंने मास्टर से कहा, "तू जा मास्टर ! यह तो अनाथों के नाथ के द्वारा बचाया हुआ है। बघेर इसे सूंघकर चला गया।"

"बाबा !" उसके मुंह से निकला।

"पागल !" मैंने कहा, "डरता है ? कुछ नहीं बिगड़ेगा !"

मास्टर जैसे थर्रा उठा।

मैंने बच्चे से कहा, "ले यह भभूत !"

बच्चे ने भभूत माथे से लगवा ली।

मैंने कहा, "तेरे मालिक ने दूसरी शादी की है मास्टर ?"

मास्टर के नेत्र, लगा, फट जाएंगे।

"इन्हींपर छाती दिए बैठे हैं।" उसने कहा।

मैंने कहा, "जा बच्चा, तू खेल। धरती का फूल आकाश पर चढ़ गया।" मैं बड़बड़ाया।

मास्टर की श्रद्धा टूटी पड़ रही थी।

मैंने मास्टर साहब की ओर देखा और पूछा, "एक मंज़िल नहीं है। कितनी हैं। कहां जाने पर धरती और आकाश मिल जाते हैं, बता सकता है ? बता न, जल्दी बता। स्वर्ग-नरक दोनों के परे क्या है ? तू तो पढ़ाता है। तू बता। तू नहीं जानता ?"

मास्टर समझा नहीं। बोला, "महाराज ! मैं इतना क्या जानूं महा-राज। मैं ठहरा संसारी। गिरस्त। परकटा पंछी। साधना की बात मैं क्या समझूं ! इतनी बुद्धि कहां से लाऊं महाराज !"

"तू यहां कैसे आया ?"

"मेरा यहां घर है।"

"घर !" मैंने हंसकर कहा, "दो ईंटें आड़ी धर लीं, दो तिरछी ! नाम धर दिया घर ! अरे मोटर में आया है ?"

मास्टर का बोल कुछ रुंध-सा गया।

"हां महाराज !" उसने कहा। आप वह समझ नहीं पा रहा था कि किस त्रिकालज्ञ के सामने आ गया था। वह फिर चकित हुआ।

मैंने कहा, "मास्टर ! ज़िन्दगी में तूने कितने भले काम किए हैं ?"

"एक भी नहीं महाराज।"

"तो भगवान का ध्यान किया कर।"

दुपहर हो चली थी। एक स्त्री मेरे पास रोटी लेकर आई। उसने मेरे आगे रख दी। मैंने कहा, "क्यों लाई है इन्हें ? ले जा, ले जा···"

गाय-भैंसों को चरानेवाले ग्वारिए मेरा ऊंचा बोल सुनकर आ गए। स्त्री हाथ जोड़कर सामने बैठकर रोने लगी।

एक लड़का बोला, "महाराज ! बिचारी बड़ी दुखिया है !"

कंडे थापनेवालियों ने आश्चर्य से देखा।

मैंने कहा, "धूनी से दूर हो जा तू !"

स्त्री हट गई। अब लड़के रह गए। बाकी सब चले गए। क्यों किसीने भी विरोध नहीं किया ?

मैंने सोचा और अनुभव किया कि जीवन के अनेक पहलू हैं। इतना अपमान सहकर भी वह स्त्री अपने मन में धन्य होती हुई चली गई है, क्योंकि मैंने उसकी रोटी रख ली है। मैं उन्हें खा लूं। कोई कुछ करता है, कोई कुछ ! पर स्त्री चाहती है कि मैं उसके कुछ करनेवाले संसार से दूर, ठलुआ बनकर बैठने पर भी, उसपर इतनी मेहरबानी कर दूं कि कुछ खा लूं ? क्यों ? क्योंकि मैं मांगता नहीं।

इन सबका तात्पर्य क्या है ? मेरी निरासक्ति से उसका यह उत्तरदायित्व कैसे हो गया कि वह मुझे खिलाए ? पड़ोसी गिरस्त भूखा रहता है, तब उसे देने पर लोग एहसान करते हैं, नहीं भी देते। और मैं ले लूं तो मेरा अहसान मानते हैं !

लेखक होना है तो साधु बनकर रहना थोड़े दिन भारत में आवश्यक है। जीवन के किसी भी स्तर में आप घुस सकते हैं, कोई बाधा बीच में नहीं आती।

अचानक मुझे ध्यान आया। मास्टर बैठा है।

मैंने उस ओर नहीं देखा, जैसे मैं अपने विचारों में मग्न था। यह भी कैसी विचित्र अवस्था है! यदि प्रोफेसर के रूप में मैं ऐसा करता तो मास्टर मुझे अशिष्ट समझकर चला जाता। अब यह अशिष्टता मेरी 'लौ' मानी जाती है।

मेरा ध्यान टूटा। मैंने अनुभव किया कि अपने से ऊंची किसी सत्ता के पीछे रहना, जीवन की सार्थकता के अन्तर्गत माना जाता है।

मास्टर अत्यन्त श्रद्धा से बैठा था। क्यों बैठा था यह मेरे पास? इसे किसकी आशा थी? मेरे पास था क्या? अलौकिक के बारे में मनुष्य को कितना कौतूहल है! सचमुच कितनी बड़ी सीमा है कि हमें असीम का आभास दे दिया गया है और साधन नहीं दिए गए!

मैंने कहा, "मास्टर! काल का चक्र घूम रहा है। परमात्मा ने जीव में जीवित रहने की इच्छा भर दी, इस माया के पीछे उसे पागल कर दिया और छोड़ दिया कि तू अपना दाना इकट्ठा कर। दाना इकट्ठा करने में वह उस परमात्मा को भूल जाता है। तू तो उसे नहीं भूलता मास्टर! संसार में जन्म-मरण की एक अखंड क्रीड़ा चल रही है।"

उस क्षण स्वयं मैंने ही देखा कि एक विराट चक्र घूम रहा था। उसमें सब जल रहे थे, बुझ रहे थे। और ऐसा पड़ा था यह ढेर। उसका प्रतीक थीं ये मूर्तियां। मुझे ध्यान आया। वे मूर्तियां जो देखने में दसवीं सदी की लगती हैं, इन्हें किसने बनाया था?

कौन-सी सभ्यता दबी पड़ी थी इस ग्राम में? ये चौड़ी-चौड़ी ईंटें। सारा गांव एक ढूह के ऊपर बसा था। टीले पड़े थे। विजन, नीरव। सभ्यताएं नष्ट हो गई थीं, और उनकी याद रखनेवाला भी कोई नहीं रहा था। कितना विश्वास होगा उन लोगों को तब! वे भी चीजें सहेजकर रखते रहे होंगे। काल एक दिन हम सबको भी निगल जाएगा। तब जो हम इतने ध्यान से वस्तुओं को एकत्र कर रहे हैं, वे शेष रहेंगी? या जो हम बेकार समझते हैं, ऐसा ही कोई मिट्टी का टूटा-फूटा बर्तन हमारी सत्ता की घोषणा करेगा। यह ही है हमारी वास्तविकता? इतना ही है हमारा जीवन और उसका दर्शन।

मुझे एक एन० बी० पी०[1] मिला था। काला चमकता पात्र। उसे देख-

1. उत्तरी काला चमकदार पालिश किया हुआ पक्की मिट्टी का बरतन

कर मुझे लगा था कि बौद्धकालीन कोई सुजाता मेरे सामने खड़ी थी, या मौर्यकालीन कोई सुन्दरी। इसी बैर में। कहां गए थे ढाई हज़ार साल पहले के लोग! उनका निशान भी नहीं रहा। और लोग समझते हैं कि यह बस्ती अब केवल ढाई सौ साल पुरानी है।

उतार और चढ़ाव के बवंडर आते हैं; चले जाते हैं। कहां हैं वे कवि जो तब वसन्त के आगमन के समय आरक्त प्रबालों की गंधों में झूमते कोकिल के स्वरों पर रीझ उठते थे। आज भी ऐसे कवि हैं। हम इसी विराट विस्मरण में रहते हैं, बनते हैं, बिगड़ते हैं, फिर बनाते हैं, फिर बिगाड़ दिए जाते हैं। यह कैसा निर्दय खेल है! हम लिखकर छोड़ जाते हैं, लेकिन आगेवाले हमारी लिखावट को नहीं पढ़ते।

और इस विराट झमेले में कितना-सा था यह बाबू रामपरशाद! मास्टर जिसके गिर्द घूम रहा था। एक बच्चे को कहीं से कहीं उठाकर रख दिया गया था। लेकिन इस परिवर्तन का भी क्या महत्त्व था! शायद यही हमारे उस समर्पण का रहस्य है कि हमने गिनती रखी और रख नहीं सके। भारतीय संस्कृति आज ढाई हज़ार साल पहले के बुद्ध को बहुत प्राचीन मानती है। परन्तु बुद्ध के समय में वेदों को बहुत प्राचीन मानते थे। वे नहीं जानते थे कि वेद किसने बनाए थे। और भी पहले क्या यही विस्मय नहीं था जब वेद के ऋषि ने कहा है नारदीय सूक्त में कि कौन जानता है, यह सृष्टि कैसे हुई! कब हुई! उसके लिए भी यह सब इतना ही प्राचीन था जितना आज बुद्ध हमारे लिए है। ये सब दूरियां ही तो विस्मरणीय हैं!

उफ! निरासक्ति में कितनी वेदना है कि आसक्तों को देख दिल रोने लगता है। हम जानते हैं कि इसमें कोई तथ्य नहीं है, फिर भी उसीको सत्य मानकर उसीमें खोए रहने की चेष्टा करते हैं। हम जानते हैं कि अधिकार, रूप और शक्ति तीनों ही मनुष्य की तीन मूर्खताएं हैं, परन्तु हम

(Northern Black Polished Ware)। यह पात्र बुद्ध से लेकर मौर्य राजाओं तक के समय में बनाया जाता था, ऐसा पुरातत्त्ववेत्ताओं ने अपने अभी तक के अनुसंधानों का निष्कर्ष निकाला है। अर्थात् ईसा से पांच सौ वर्ष पहले से ईसा के १०० या २०० वर्ष पहले तक ऐसे मिट्टी के बर्तन भारत में बनाए जाते थे।

उन्हींके पीछे पड़े रहते हैं, हम जान-बूझकर भी मूर्ख बने रहते हैं।

स्त्रियां क्यों मेरा इतना सम्मान करती थीं ? ब्रह्मचर्य के प्रति उन्हें इतनी श्रद्धा क्यों होती है, जबकि इसमें उन्हींको माया का रूप कहकर छोड़ दिया गया है ? यही मानव-जीवन का एक मूल रहस्य है। किसीको हेय समझना शुरू कर दो तो वह अपने को क्यों हीन मानने लगता है ? किस प्रकार समाज में ये दर्जे पड़ गए हैं कि हम धन से भी परे, जन्म के आधार पर भेद-भाव करते हैं ?

मैं सोचता रहा और बिना किसी गिले के, बिना ऊबे, बिना किसी अपमान की अनुभूति के, सामने मास्टर चुप बैठा रहा।

"तेरा यह कुंवर केवल मटियाबुर्ज है या कुछ तू पढ़ा रहा है ?" मैंने एकदम पूछा।

"ऐं महाराज ?"

"इसको तू लाड़ में बिगाड़ रहा है कि आगे चलकर भगवान की ज़िम्मेदारी ले सके, ऐसा बना रहा है ?"

मास्टर चौंका।

"पढ़ाता हूं महाराज !"

"संस्कृत पढ़ाता है ?"

"नहीं, महाराज ! मैं नहीं जानता !"

मैं जानता था कि यदि कुछ देश की बात कह गया तो मास्टर चौकन्ना हो जाएगा, क्योंकि बाबा ज़्यादासे ज़्यादा धर्म की बात कर सकता है, राजनीति की करेगा तो पुलिस उसे पकड़ लेगी। मुझे इस अवस्था में अपने ऊपर तनिक भी शक करवाना मंज़ूर नहीं था।

अतः कहा, "गुरुकुल में पढ़ता है ?"

"घर पढ़ता है।"

"घर में कौन पढ़ता है ? घर पढ़ते तो ऋषियों ने गुरुकुल क्यों बनाए थे ? बता मूर्ख ! तू धरम की जड़ काटता है !"

"मालिक आंखों से ओझल नहीं होने देते।"

"क्यों ?"

"इकलौता है न ?"

"छाती से लगाकर ले जाएगा पागल इसे ! बच्चा आदमी में से होकर आता है, पर अपना भाग्य लेकर। उफ !" मैंने कहा, "कृष्ण ! तू क्या सोचता था और हुआ क्या ! तूने सोचा था कि तू धर्म की स्थापना करेगा। पर हुआ क्या ! कलियुग आया और चातुर्वर्ण्य ने ही मनुष्य को बांध दिया। तुझे क्या यह ज्ञात था ?"

"कौन कृष्ण महाराज ?"

"मूर्ख ! वही जिसे तू भगवान कहता है।"

मास्टर का मुंह खुल गया।

जैसे मैंने अपने-आपसे कहा, "हां ! वह घटना मेरे सामने की है।"

मास्टर के मुंह से निकला, "महाराज तब भी थे !"

"चुप रह मूर्ख !" मैंने कहा, "हम अजन्मा हैं।"

फिर जैसे मैं सोचता हुआ उठ खड़ा हुआ। मास्टर भी उठ खड़ा हुआ। मेरे पांव उसने पकड़ लिए।

"क्या है ?"

"आप अश्वत्थामा तो नहीं ?"

"गोविन्द ! तूने आर्यभूमि को कैसा कर दिया ?" मैंने कहा, जैसे उसकी बात को सुनी-अनसुनी कर दिया, "सब चला गया। पर लौटेगा। वह नष्ट नहीं होगा।"

मैं क्या कहना चाहता था, पर मेरे मुंह से क्या निकल गया ! पुलिस का डर न होता तो मैं इस साधु के चोले में से नई-नई बातों का उपदेश देने लगता।

मास्टर ने कहा, "महाराज ! इस देश में आर्य कहां हैं ?"

पर मुझे तो और चिन्ता लग रही थी। मास्टर जब गांव में कहेगा कि मैं अश्वत्थामा हूं, तब सबका कौतूहल जागेगा और भीड़ें बढ़ेंगी। पुलिस का भी दौरदौरा बढ़ेगा। बहुत सम्भव है महाराजा के कानों तक भी बात पहुंच जाए। इसलिए मास्टर की बात को सुनकर भी जैसे मैंने नहीं सुना और कहा, "सब-कुछ चला जा रहा है।"

"कहां महाराज ?"

"अलख निरंजन वन में !" मैंने ऊपर देखते हुए कहा। बात संध गई थी। अब वह जो मोड़ आ गया था, उसे मैंने पार कर लिया था और धार,

जो मेरी होनी चाहिए थी, उसीमें लौटा लाया था।

"महात्मा !" मास्टर ने कहा, "मुझपर दया करें !..."

मैंने बात अधूरी छोड़कर कहा, "जब शिव नाचते हैं तब वे रुद्र हो जाते हैं। तब संहार होता है। सुन रहा है तू ?"

"क्या महाराज ?"

"तू नहीं सुनता मूर्ख ! देख ! ध्यान लगाकर सुन ! कैसी ध्वनि आ रही है और आकाश में फैल रही है—'अइउण् ऋलृक्'[1]...डमरू की गूंज नहीं सुन पड़ती तुझे ? जाने कितने ही लोक इतनी देर में तो भस्म भी हो चुके, सर्वात्म में परमशिव है। वही परमविष्णु बनकर पालन करता है, वही परमब्रह्म बनकर सबका सृजन करता है—'हयवरट् लण् ञमङणनम'... सुन-सुन...कैसा अनहद नाद हो रहा है...कितनी प्रजाएं हाहाकार करती हुई अंधेरे में नष्ट होती चली जा रही हैं...कितने सूर्य बुझ-बुझकर खो गए हैं...जभञ झब गडदश...हाहाकार...समाधि पुरुष...तुम्हारी जय... तुम्हारे परमानन्द की जय...मुझे उसीमें समेट लो अलख निरंजन !"

मैं चल पड़ा।

मुझे अब वहां रहने में भय लग रहा था। इतनी महत्ता और पांडित्य प्रकट कर देने के बाद वहां रहने में काफी खतरा था।

मास्टर पीछे चला।

मैंने कहा, "कहां चलता है संसारी !"

"महाराज..."

"जहां है, वहीं ठहर जा !"

मास्टर वहीं रह गया।

पीछे से उसने पुकारा, "महाराज...मुझे चरनधूलि तो ले लेने दो, क्या मैं पापी..."

मैंने मुड़कर भी नहीं देखा।

पीछे रह गया बैर। कढ़ीवाले की बगीची पहुंचकर मैंने मुड़कर देखा। इसके बाद अनंत वृक्षों की कतारें। गत वर्ष की बनी पक्की सड़क। न जाने कब से यह कच्ची पड़ी थी। पहले इसपर बैलगाड़ियां चलती थीं। फिर

---

१. शिव के डमरू से निकलनेवाले शब्द यही माने जाते हैं।

गति के सबसे तेज़ वाहन आए इक्के, फिर तांगे और फिर कच्चे में ही लारियां चलने लगीं। अब धीरे-धीरे इस सड़क का रूप बदला। पहले भी लोग इस पथ पर चलते थे और अब भी चलते हैं। इसी जगह कौन जाने पहले खेत थे या जंगल। और अब मेरे सामने दूसरे ही चित्र आए। कौन जाने इस मार्ग से कितने बंजारे न निकल गए होंगे! और जाने कब से मनुष्य का आवागमन हुआ होगा यहां! यह मैं हूं बीसवीं सदी में। गुप्त-काल में लोग यहां चलते थे। चलते थे उससे आठ-नौ सौ साल पहले बुद्ध के युग में। शायद हरप्पा की संस्कृति जब वहाँ फल-फूल रही थी, तब भी यह एक रास्ता था। मैं न जाने क्या-क्या सोचता चला जा रहा था। मुझे उन लोगों पर हंसी आ गई जो कहा करते थे कि गांव में मन कैसे लग सकता है? अरे, मन कहां नहीं लगता?

वही भूमि है पर नई लग रही है। वही आकाश है पर वह भी नया-सा लग रहा है। ऐसा क्यों होता है? इस पुराने संसार में सब कुछ बहुत समय से रहता आया है, परन्तु नया क्यों लगता है?

आकाश में पक्षी उड़ने लगे थे। अनन्त उड़ान। हवा पर जीवन की जीत, किंतु धरती के आकर्षण के सामने सब कुछ पराजित।

मैं सोचने लगा। अब कहां जाऊं? क्यों न इन दिनों ऐतिहासिक स्थानों को देख डालूं? मेरे भीतर यह विचार जाग उठा। ऐसा अवकाश फिर कब मिल सकेगा।

मैं बयाने के पहाड़ पर अकेला चढ़ने की इच्छा से बढ़ रहा था। सन्नाटा-सा था। अचानक ध्यान आया, 'शर्मा! अगर तुझे यहां कोई जानवर मिल गया तो क्या करेगा?' तब मैंने एक आवश्यकता अनुभव की। मुझे एक त्रिशूल रखना चाहिए। मौके-बेमौके वह रक्षा करेगा।

सिकन्दरे की ओर देखा। नीरव गांव—बयाने के पहाड़ के नीचे। किसी समय यहां भी शायद रौनक रही होगी। अब तो एक उजाड़ था। लोग कहते थे कि यहां यदि कोई घर बनाने को नींवें खोदता था, तो उसे प्रायः ही पुराने ज़माने के सिक्के मिल जाते थे। उदय और अस्त के बीच पहाड़ के ऊपर किले की दीवार दीख रही थी।

घने पेड़ थे। मैं उनके बीच में छिप-सा गया, सिवाय साधु के उनके बीच जाने का और किसका साहस हो सकता था! पहाड़ यहां से कितना अधिक ऊंचा दिखाई दे रहा था!

मुझे देखकर एक व्यक्ति ने पेड़ की आड़ से निकलकर धीरे से कहा, "बाबा, धीरे-धीरे चलो।"

"कौन है तू?" मैंने पूछा।

"महाराज! आगे खतरा है।"

मैंने डंडा उठा लिया। एक पेड़ की डाल पड़ी थी। इस समय वही मेरे जीवन की रक्षा का साधन था।

व्यक्ति मेरे सामने आ गया। इसे मैंने कहां देखा था!! यह तो मुझे एक जाना-पहचाना-सा व्यक्ति दीख रहा था। कहां मिला था यह मुझे! पर वह आदमी मुझे नहीं पहचान सका।

मैंने देखा। याद का पंछी धीरे से घोंसले से निकला, पीछे उड़ने लगा। वह भटक गया। कई जगह इच्छा हुई उसकी कि लौट जाए। फिर एक गोता लगाकर उठा तो पुकार उठा, 'वही है, लोहपीटा मोती।'

मोती! वही! जिसका बच्चा खोया है। वही जिसका बच्चा मैंने वैर में खेलते देखा है। इसे क्या पता कि इसी संसार में क्या-क्या हो रहा है!

मोती मेरे निकट आ गया और बोला, "होशियार महाराज!"

एक हुंकार सुनाई दी। भयानक था वह स्वर। उस निर्जन में गूंज उठा। खुले हाथ, खुले पांव और उनमें लम्बे नख। बिकराल दाढ़ें। ऐसा एक जंतु था वह, जिसकी आवाज़ सुनाई दी थी। 'चीं-चीं-चीं' करता चिड़ियों का झुंड हमारे सिर पर से उड़ गया।

"बघेर है बघेर!" मोती ने कहा, "पेड़ पै चढ़ जाओ महाराज!..."

मैंने कहा, "बच्चा! जिनावर है। चला जाएगा।"

"मैं इसको मारूंगा बाबा!" उसने दांत भींचकर कहा। उसका क्रोध हुमक रहा था, और मैंने देखा उसमें एक पागल प्रतिहिंसा थी। बोला, "महाराज! हर साल एक बघेर मारता हूं। अकेला। मैं इनका बंसनास कर दूंगा! इनका सत्यानास कर दूंगा! आप बच के खड़े हो जाओ।"

मैंने कहा, "पागल! वह जानवर जो तेरे बच्चे को उठा ले गया था

दूसरा था। किसीका बदला किसी और से नहीं लिया जाता। जानता है ? अपने गुस्से को छोड़ दे। तू आदमी है। वह जानवर है।"

मैंने मुड़कर उसकी ओर देखा। उसपर जैसे जादू हो गया था। ऐसे शब्दों में सारे अतीत को सुनकर मोती मेरे पांवों पर गिर पड़ा।

"महाराज······"

मैंने कहा, "उठ मोती, उठ !"

"महाराज······" वह भयार्त-सा चिल्लाया।

त्रिकाल-दर्शन का यह आडम्बर जैसे उसे ऐसा परास्त कर गया था कि उसमें मेरी ओर देखने का भी साहस नहीं हो रहा था।

मैं उसे आवेश में देखकर पीछे हट गया। और पुरानी परम्परा में यही कहा जाता है कि असली साधु तुरन्त चला जाता है। मैं भी झाड़ियों में घुस चला।

मोती क्षण-भर किंकर्तव्यविमूढ़-सा रहा, फिर मेरी ओर भागा। उसने फिर मेरे पांव पकड़ लिए। मैंने उसे देखा और देखा ऊपर।

मैंने देखी भीम लाट। एक भीम चट्टान पर खड़ी थी वह। कितनी बड़ी होगी वह ऊपर, जब यहां से ऐसी छोटी-सी लग रही थी। मुझे इसका अनुभव था। मैंने देखा था कि धौ के पेड़ों के बीच चरती गायें पहाड़ों पर, नीचे से देखने पर ऐसी लगती थीं, जैसे छोटे-छोटे झाड़ों के बीच बकरियों से भी छोटे जानवर हों। उस समय भी मुझे ध्यान आया, वे कौन थे जो इस लाट को बना गए थे। कौन थे जिन्होंने इसके पास का वह मुंडारा बनाया था। आज इस किले में दिन में बघेर डोलते हैं। ऐसा उजाड़ है यहां। एक भी मनुष्य नहीं दीखता। और एक दिन जो वैभव से यहां रहते थे, वे क्या जानते थे कि यहां ऐसा विनाश छा जाएगा। आज से हज़ार बरस हुए, तब तो यह जगह अपना वैभव खो चुकी थी ! कब बनी होगी, पहाड़ पर उसकी लम्बी दीवार विशाल अजगर-सी पड़ी थी।

सारा प्रांतर प्रतिध्वनित होने लगा। बघेर की हुंकार यद्यपि दूर हो गई थी, फिर भी नाद तो व्याप्त होता जा रहा था।

"मोती !" मैंने कहा, "क्या चाहता है ?"

"महाराज ! परमात्मा ! दरसन दिए प्रभू ! अब मुझे और क्या

चाहिए। कुछ नहीं। नैन तिरपत कर लूं महाराज !"

मैंने कहा, "छोड़ दे। मुझे जाने दे।"

मोती ने फिर भी नहीं छोड़ा।

"तो फिर धूनी लगा दे।"

उस क्षण मुझे लगा कि यह एक गलती हो गई। पर वह प्रसन्नता से उठा और उसने एक हेला दिया। आवाज लहरा उठी। मेरे देखते-देखते पन्द्रह-बीस जवान लोहपीटे आ गए। मोती ने कहा, "धूनी लगा दो महाराज को ! भगवान शंकर के औतार हैं !"

उसकी श्रद्धा देखकर जवान फौरन काम में जुट गए। तब मुझे पता चला कि उनकी गाड़ियां पेड़ों के पीछे ही खड़ी थीं।

"उठ।" मैंने कहा।

मोती ने सिर उठाया।

"महाराज······"

"नहीं।" मैंने कहा, "तेरा बेटा मरा नहीं है। अब और कुछ न पूछ।"

"नहीं पूछूंगा महाराज ! पर वह सुखी तो है ?"

"मत पूछ।" मैंने कहा, "जा, एक त्रिशूल बनाकर ला हमारे लिए। अब हम ध्यान में लगेंगे।"

"महाराज !" उसने गद्गद होकर कहा जैसे त्रिशूल मांगकर मैंने उसपर एक भारी एहसान कर दिया था।

लाली आ गई, उसके साथ पांच-छः साल की एक लड़की थी।

मैंने हाथ से इशारा किया। मोती समझ गया। पुकारकर कहा, "महाराज का हुक्म है, बैयरबानी और बच्चे इधर न आएं।"

स्त्रियां और अधिक श्रद्धा से पीछे हट गईं।

मैं ध्यानस्थ-सा बैठ गया।

हठात् मुझे अपनी भूल महसूस हुई। अब कहीं मुझसे यह पूछ न बैठे कि बच्चा कहां है। अतः मैंने निर्णय कर लिया कि जब वह त्रिशूल दे देगा तब मैं चुपचाप चला जाऊंगा। तब तक मैंने ध्यान में डूबे रहने का इरादा कर लिया।

कुछ युवक चले गए। थोड़ी ही देर में गांजा-तमाकू, चिलम इत्यादि

सब कुछ आ जुटा। मैं सोचने लगा। यह लोग आधुनिकता, स्वतन्त्रता, और इसी प्रकार की एक भी बात नहीं समझते। लेकिन अपने मध्यकालीन वातावरण में भी यह समझते हैं कि योगी कौन होता है, साधु कौन होता है।

मैं चल पड़ा दूसरे दिन हाथ में त्रिशूल लिए।

"साकसात[1] महादेवजी हैं !" किसीने कहा।

स्त्रियों ने मेरी ओर अपने बच्चे आगे कर दिए। मैं देखता-अनदेखता-सा आगे चलता रहा।

पता नहीं कितनी दूर चल आया मैं। एक जगह पत्थर पर बैठा और फिर लेट गया। मेरी आंख लग-सी गई।

जब मैं उठकर चला, तब एक पगचाप-सी सुनाई दी। मैंने मुड़कर देखा। मोती मेरे पीछे था।

"तू कब आया ?"

"जब महाराज सोते थे तब से देखता हूं। बघेर निकला इधर से लेकिन बोला नहीं। चुपचाप चला गया।"

"लौट जा बावरे !" मैंने हंसकर कहा, "वह हमसे क्या कहेगा !"

"महाराज !" वह ग्लपयित कंठ से बोला।

"तू माया में फंसा है।"

"महाराज का वासा कहां होगा अब ?"

"खुली छत के नीचे सारी धरती मेरा घर है। सारी दुनिया के लोग मेरे घर के हैं।"

मोती ने अवाक् होकर देखा।

मैंने कहा, "मोती ! तुम भी घूमनेवाले हो ?"

"हां महाराज।"

"पर मानुस का बन्धन धरती नहीं है, जिसे तुम छोड़ बैठे हो, वह तो उसका मन है। तुम अपसे मन को जीतो।"

"महाराज !" मोती ने दण्डवत् प्रणाम किया। मैं बढ़ आया। मोती वहीं रह गया।

छूट गया वह। और मैं सोचने लगा। कहीं पीछे न आता हो वह।

१. साक्षात्

परन्तु शायद उसके भीतर इतना साहस ही नहीं था, कि वह और मेरे पीछे चलता। कहते भी हैं कि प्रखर तेज को सहने के लिए आंखें भी चाहिए। मोती के पास कहां थीं वे आंखें जो वह मेरे छद्म को झेल लेता। और तब मैं साधू रूप में काफी घूमा।

कई महीने बीत गए।

पर सदा कोई बात बनी नहीं रहती।

मैं फिर आगरा आकर क्रान्तिकारियों में मिल गया। एक दिन एक पुराना राजनीतिक मित्र मिला। मैंने अपने को उसपर प्रकट कर दिया। उसने मुझे उस रूप में देखा तो बोला, "कमाल है यार! मैं तो पहचान भी नहीं पाया। क्या मेक-अप[1] किया है! वाह! मास्टरपीस![2] चलो उतारो अपना चोला। यह तो एक प्रीहिस्टोरिक ड्रैस[1] है।"

इस प्रकार उस दिव्य मूर्ति का अन्त हुआ, और इतने मज़ाकिया तरीके से। लेकिन मैं तो सोचता हूं कि मनुष्य वास्तव में कितना विचित्र है। वह अवस्था के प्रति सबसे अधिक अस्थिर होता है।

सब कुछ भूल गया मेरा मन। यह क्या किसीकी याद को लाश बनाकर ढोता है?

---

१. बनावट, रंग-रोगन लगाकर सजाना

२. बहुत ही श्रेष्ठ

३. प्रागैतिहासिक पोशाक

३

सन् १६५२ ई० ।

जब मैं बयाना स्टेशन पर पहुंचा तो न जाने कितनी-कितनी यादें फिर न आ गईं ! वही लाल छोटी-सी इमारत। वही बिना पुल[1] के नीरव प्लेट-फार्म । वही दो-एक नीली पोशाकवाले कुली। उस दृश्य में कोई खास बात नहीं, फिर भी मुझे एक परिचय-सा लगा, हालांकि आदमी कोई न था मुझे पहचाननेवाला।

स्टेशन के बाहर आने पर कुली से कहा, "वैर को तांगा मिल जाएगा ?"

"मोटर में जाइए बाबू सा'ब ! जल्दी पहुंचेंगे ।"

"कहां है मोटर ?"

"अड्डे पर चलना होगा।"

"बक्स-बिस्तर कौन पहुंचाएगा वहां ?"

"मैं चलूंगा सरकार !"

चौराहे पर पहुंचकर देखा वही ऊंचा जैन मन्दिर था। उसके बगल में ही अड्डा था। वही कोलाहलहीनता। वही रफ्तार, खोई-सी जिन्दगी। और वह भी दिल्ली से सौ मील, आगरा से सिर्फ पचास-साठ मील की दूरी। ज़िन्दगी अपने पहलू कैसे समेटती है, कैसे फैलाती है !

कुली आगे बढ़ा। मैंने देखा कि मोटर भरी-सी थी और कुछ लोग सामान चढ़ाने में लगे थे। मैं बस की तरफ बढ़ा कि पीछे एक मोटर रुकी।

मैं चौंक गया। किनारे हो गया। लेकिन मोटर मेरी ओर ही बढ़ती

---

१. पुल १६५६ में बना

आ रही थी। मैं समझा आज एक्सिडेंट होगा। और भी किनारे हो गया। धूलि के कारण मेरी नाक भर गई।

"अरे रोक-रोक!" किसीका स्वर सुनाई पड़ा। गाड़ी रुकी।

"प्रोफेसर साहब!" आवाज़ आई।

मैं तब तक भी अपने को सहेज नहीं सका था, उस आक्रमण से। मोटर-वालों के प्रति उस समय मुझे घोर विक्षोभ था।

मैंने मुड़कर देखा।

"अरे!" मेरे मुख से निकला, "आप!"

मास्टर साहब थे। और बिजली की तरह मेरे भीतर यह बात कौंध गई कि उस दिन भी मोटर थी, पर यह मेरे चरणों पर बैठा था, और आज इसकी मोटर मुझपर धूल उड़ा रही है!

मोटर का दरवाज़ा खुला। मैंने अपने कपड़ों की धूल झाड़ी। और आगे बढ़कर कहा, "आप कब आए?"

मास्टर साहब उतरे। ऊनी पतलून। बन्द गले का जोधपुरी ऊनी कोट। सारे हुलिया पर आराम से रहने का मुलम्मा।

मास्टर ने मुझसे हाथ मिलाया और कहा, "आपके मिज़ाज प्रोफेसर साहब!"

इन नौ वर्षों में मास्टर की कनपटियों के पास बाल सफेद हो गए थे। वह मुझे अब काफी तन्दुरुस्त-सा लगता था।

मैंने कहा, "आपकी मेहरबानी है। आप तो···"

"भगवान का साया है। आपको यहां देखा तो ताज्जुब हुआ। शायद अठारह बरस पहले की बात है। तब से अब तक! ओफ्फोह! कितना जमाना बीत गया! वक्त तो ऐसे निकल जाता है कि पता भी नहीं चलता··· और वैसे एक-एक पल पत्थर लगता है। आप यहां आए और मैं भी आया। इसे किस्मत न कहिएगा तो और किस नाम से पुकारिएगा? मैं तो समझता हूं कि भाग्य ही हम सबको चलाता है।" फिर मास्टर ने स्वर बदला, "कैर चल रहे हैं?"

"हां, मैं उधर ही जा रहा हूं।"

"आपका सामान कहां है?"

"वही कुली ले गया है।"

"बस में ?"

"हां।"

मास्टर साहब ने क्षण-भर सोचा और कहा, "आप हमारे साथ ही चलिए न ! एक जगह जाना है तो आइए मोटर में।"

यह कह उसने मोटर में देखा। भीतर एक सत्रह-अठारह साल का लड़का था। वह एक पतलून पहने था और ऊपर एक जर्किन। उसके ऊपर कढ़े हुए बाल बड़े रेशमी थे। चेहरे पर एक पवित्रता थी, आंखें ऐसी थीं, जैसे वह किसी स्वप्नलोक में विचरण कर रहा था। वह मुझे एकटक देख रहा था। उसके होंठों पर एक मन्द-सी मुस्कान दिखाई दे रही थी।

"मैं बस में चला चलता हूं।" मैंने कहा।

"इसमें क्या तुक है साहब ?" मास्टर ने कहा, "आप बड़े आदमी हैं। मैं एक अदना मास्टर हूं, लेकिन मेरी-आपकी जान-पहचान कितनी पुरानी है ! उसके नाते मेरा भी क्या कुछ हक नहीं हो जाता। 'मैं बस में चला चलता हूं।' इसके क्या माने होते हैं ! अजी प्रोफेसर साहब, कैसी बातें करते हैं आप ! आइए भी। जिनसे आप इतना हिचक रहे हैं, उनसे आपकी बात-चीत कराऊं।"

लड़का मोटर से उतर आया। मुझे हाथ जोड़ा, मास्टर ने गर्व से देखा मेरी ओर। मैं भी उस लड़के को देखकर प्रसन्न हो गया। कितनी भावमय थी उसकी मुखाकृति !

मास्टर ने मेरी ओर देखा और कहा, "आपसे जिनके बारे में मैंने अक्सर कहा है, यही हैं, कुंवर साहब ! ये हमारे प्रोफेसर साहब ! ऐसा सज्जन और ऐसा विद्वान मिलना भी भाग्य की बात होती है।"

कुंवर साहब ने मुझे आश्चर्य से देखा। उस दृष्टि में आदर था।

"प्रोफेसर नहीं," मैंने कहा, "अब तो मैं ब्रुक-वाण्ड कम्पनी का इंस्पेक्टर हूं।"

मेरी बात से कुंवर तो नहीं चौंका, किन्तु मास्टर पर जैसे एक चोट हो गई। बोला, "ब्रुक-वाण्ड के ?"

"हां, भाई।" मैंने कहा, "ऐसे ही चलता है सब।"

मास्टर के नेत्रों में जिज्ञासा भी थी, निराशा भी।

कुंवर साहब ने दरवाज़ा खोला और कहा, "बैठिए इंस्पैक्टर साहब।"

उसके लिए मेरे पद के प्रति कोई आकर्षण नहीं था। जिस मुद्रा से उसने प्रोफेसर का स्वागत किया था, उसी मुद्रा से उसने अब की बार इंस्पैक्टर का स्वागत कर दिया। शायद वह अभी भेद नहीं जानता था।

मैंने देखा। लड़का अब जवानी की दहलीज़ पर खड़ा था। कुछ प्रकाश भीतर जा रहा था, कुछ बाहर आ रहा था।

मैं गाड़ी में बैठ गया। कुली ने सामान पीछे रखा। ड्राइवर ने गाड़ी आगे की। मैंने कुली को पैसे चुकाए।

कार चल पड़ी, पीछे धूल उड़ाती। हवा सामने से मुंह पर टकराने लगी। मुझे बहुत दिनों बाद आज कार की सवारी मिली थी।

मास्टर अभी तक बेचैन था।

"तो प्रोफेसर साहब!" मास्टर ने कहा, "यह कैसे हुआ? आप तो पहले प्रोफेसर थे न?"

"था तो!"

"तो फिर आपने छोड़ क्यों दिया पढ़ाना?"

मैंने देखा। कुंवर भी अब मेरी ओर कौतूहल से देख रहा था।

"हां भाई!" मैंने कहा, "जीवन में क्या नहीं होता! मैंने सन् ४२ के आन्दोलन में भाग लिया। कालिज छूट गया। जब आन्दोलन खतम हुआ तब अपने लिए जगह नहीं रही और आखिर कुछ तो करना ही था। यह इन्स्पैक्टरी का काम मिल गया। मैंने यह ही अपना लिया।"

कुंवर साहब को दिलचस्पी हुई।

बोले, "तो आपने कालेज छोड़ दिया?"

"अपने-आप छोड़ देना पड़ा। आप तो जानते ही हैं कि बगावत अपना असर लाती है। लेकिन यह नौकरी उससे अच्छी है। लैक्चरारों को ढाई सौ मिलते हैं। कालेज तो आप जानते हैं नाम के हैं। पुराने जैसे ठाठ अब कहां रहे? न वह इज़्ज़त ही रही है। इस नौकरी में मुझे काफी पड़ जाता है। अकेला आदमी हूं। दिमाग ज़्यादा सर्फ नहीं करना पड़ता।" फिर बात बदलकर मैंने कुंवर से कहा, "आप पढ़ते हैं?"

मास्टर साहब ने कहा, "इस साल इनका योंही निकल गया। इण्टर किया था पारसाल। प्राइवेट। इस साल टाइम निकल गया।"

"क्यों ?" मैंने कहा।

"पिताजी नहीं चाहते थे कि मैं होस्टल में जाकर रहूं।" लड़के ने कहा, "पुराने खयालात के ठहरे ! आप तो जानते हैं, फतहपुर सीकरी तो अंगरेज़ी में था। ज़मींदारियां गईं। अब तो हमें बदल जाना चाहिए।"

मास्टर साहब ने कहा, "नहीं ! बाबू साहब का कहना कुछ और है और कुछ हद तक वह भी ठीक ही है।"

स्पष्ट ही क्या कहना है, और क्या ठीक है, यह रहस्य ही बने रहे।

लड़के ने कहा, "तो अच्छा हुआ मास्टर साहब ! अब जब समय बदल रहा है तो क्या उसके अनुसार बदल नहीं जाना चाहिए ?"

"क्यों नहीं ?"

"लेकिन सिद्धान्त और व्यवहार में भेद होता है। यही हमारे जीवन का सबसे बड़ा सत्य है, जिसे हम स्वीकार नहीं करना चाहते।"

मुझे आश्चर्य हुआ।

लड़के ने फिर कहा, "हमारी सारी मर्यादाएं हमारी परम्पराओं ने बनाई हैं। हमारी परम्पराओं का जन्म हमारे पूर्वजों के दैनिक जीवन की समस्याओं से हुआ है। और हम अपनी समस्याएं बदल जाने पर भी उन्हींमें अटके हुए हैं।"

मैंने कहा, "मास्टर साहब ! कुंवर साहब ने बात पते की कही।"

लड़के ने फिर कहा, "सारा प्रश्न इस बात का है कि वस्तुस्थिति के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या है ? लोकसुख या वर्गसुख ?"

मास्टर ने गर्व से मुझे देखा।

सरसों के खेत लहलहा रहे थे। नीली पहाड़ियों पर धूप पड़ती थी तो तरह-तरह की छायाएं दीखती थीं। बहुत ही मनोरम दृश्य था। दूर-दूर तक पीली सरसों नीचे लहलहा रही थी। बहुत दिनों बाद ऐसा दृश्य देखा तो मुझे बहुत ही रोमांटिक-सा दिखाई दिया।

गाड़ी चली जा रही थी। धूल के गुब्बार पीछे छूटते चले जाते थे, जिन्हें ग्वारिए इधर-उधर से देखते थे। पेड़ों की छाया में बच्चे धूल में लोटते

थे। उनके बड़े-बड़े पेट थे और हाथ में बाजरे की मोटी रोटियां थीं। इसी धूल में उगते हैं, इसीमें खो जाते हैं। इसी धूल में ये गांववाले गाते हैं, बजाते हैं, और फिर इसीमें सबका अन्त हो जाता है, जैसे गेहूं का दाना गिरकर अपनी ही अगली फसल के लिए खाद बन जाता है।

मैं बाहर देखने लगा तो कुंवर भी देखने लगा और उसने धीरे से कहा, "कितना खुला आकाश है ! कहीं-कहीं ये चांदी के बादल। फिर उड़ती काली चीलें जो वायु में टंगी-सी लगती हैं।"

वह जैसे बात करते-करते भूल गया। मैंने मास्टर की ओर कनखियों से देखा।

लड़के ने कहा, "वह कैसी छतरी है मास्साब !"

"वह ! वह तो पता नहीं।"

"कैसी सीधी पहाड़ी है ! वह सफेद छोटी-सी छतरी। किसने बनाई होगी ? ऊपर। नीचे से पानी ले गया होगा।"

"यहां से ही रामन देवता के स्थान को जाते हैं।" मास्टर ने कहा। फिर हम चुप रहे।

मैंने कहा, "आपका शुभ नाम ?"

"कृष्णप्रसाद।" लड़के ने कहा।

लड़के का उच्चारण शुद्ध था। अवश्य ही वह संस्कृत भी पढ़ा होगा, क्योंकि उसने स्पष्ट कहा। इसका बाप परशाद ही रहा, बेटा प्रसाद हो गया। वाह ! और फिर मेरे भीतर से किसीने कहा, 'शर्मा ! यह वही लड़का है।'

मास्टर साहब ने हंसकर कहा, "बाबू साहब बड़े हंसते हैं सुनकर। कहते हैं, हमारी तो परशाद में ही गुजर गई मास्टर साहब ! अब लड़का प्रसाद हो गया।" वह हंसा और बोला, "सब शर्मा साहब ! इस हिन्दी का भाग्य चेतेगा यह कौन जानता था ! आप क्या समझते हैं कि यह अब सारे भारत की राष्ट्रभाषा होगी। राष्टर भाषा !" मास्टर ने व्यंग्य किया।

मास्टर हंसा। मैं भी। लड़का भी मुस्करा दिया।

मैंने कहा, "भाषाएं बनती हैं, बिगड़ती हैं। समय ही फैसला कर सकता है। आज जो प्रचार हो रहा है, उसपर मैं विश्वास नहीं करता। इसे राष्ट्र-

भाषा बनाने की बात वे कहते हैं जो अंग्रेज़ी के प्रेमी हैं, इसे नहीं चाहते, पर वोट के लिए कहना पड़ता है। राष्ट्र और भाषा में भेद है। राष्ट्र एक राजनीतिक इकाई है, भाषा सांस्कृतिक।"

फिर हम लोग चुप हो गए। गाड़ी बड़ी देर तक चलती रही। कभी-कभी बात कर लेते, फिर चुप हो जाते। गांव के बाहर की बगीचियां पार हो गईं। कार ने बयाना दरवाज़ा पार कर लिया और बतखोंवाले तालाब के पास मोड़ लिया। वहां के विशाल वृक्षों की हरी छाया पानी में उतर रही थी। नीरव प्रशांत पड़ा था ताल। सामने गढ़ पर, जहां ताल का टीला मिलता था, बहुत सुन्दर कुंज था। वहां दृष्टि जाती तो बीच में एक छोटी-सी मध्यकालीन छतरी से टकराती। गाड़ी को धीमा होना पड़ा क्योंकि मोड़ पर एक टूटा-फूटा-सा मकान था। तभी मास्टर ने मेरी ओर रुख किया और कहा, "सुनिए, आप कहां ठहरेंगे प्रोफेसर साहब ?"

"अब मैं प्रोफेसर नहीं हूं।"

"हां, माफ कीजिए इन्स्पैक्टर साहब !"

"आप कहां ठहरेंगे ?"

"कुंवर साहब तो डाकबंगले में ठहरेंगे। मैं भी वहीं रहूंगा।"

"मैं अभी निश्चित नहीं कह सकता।"

"आप हमारे साथ ही रहिए।" कृष्ण ने कहा।

"आपको तकलीफ होगी।"

"फिर आपने वही बात की !" मास्टर ने कहा।

मुझे भला क्या एतराज़ हो सकता था ? मैंने कहा, "फिर बाद में अगर मेरी वजह से तकलीफ होगी तो मैं छोड़कर न जाऊंगा !"

वे लोग हंस पड़े।

गाड़ी ने फुलवाड़ी के पीछे से मोड़ लिया और हम थोड़ी देर बाद ही नौलखे में डाकबंगले के सामने जा पहुंचे।

इतने वर्षों के बाद जब मैंने रेवत को देखा तो वह मुझे पहचान नहीं पाया था। अब वह बूढ़ा-सा लगता था।

"ओहो !" मैंने कहा, "वही रेवत !"

"मालिक !" रेवत ने अपनी स्मृति पर ज़ोर देते हुए कहा, "आप !"

"क्यों ? पहचान नहीं पाए ?"

जब हम लोग भीतर फैल-बस गए और लगा कि हम आ पहुंचे हैं, तब रेवत बोला, "चाय लाऊं हुजूर !"

"चाय !" मैंने कहा ।

मास्टर साहब ने कहा, "अब यह वैर वही वैर नहीं है, प्रोफेसर साहब ।" वह हंसा और कहा, "चाहे जितनी चाय लीजिए । अब तो देहात के लोग भी चाय पीते हैं ।"

"अच्छा !" मैंने कहा, "मैं यहां एजेन्सी की खातिर आया था । तब तो आजमाया मामला है ।"

मेरी बात सुनकर मास्टर हंसा ।

रेवत की आंखों में अपरिचय झलका ।

मैंने कहा, "रेवत ! तूने पहचाना नहीं ।"

"बाबूजी तो कुछ और कह रहे हैं !"

"क्या ?"

"अरे हुजूर !" वह बोला, "नाज़िम साहब के दोस्त आप···"

"वही हूं ।"

"पहले आए थे, पोथियां ढूंढ़ी थीं···"

"हां, हां ।"

"सत्तरह साल पहले आप तब ही तो ठहरे थे जब बघेर एक लोहपीटे के बच्चे को उठा ले गया था···"

लड़के ने कौतूहल से देखा और पूछा, "कहां ? यहीं ?"

मैंने सिर हिलाया, जैसे बात टालना चाहता था ।

मेरी और मास्टर की आंखें मिल गईं ।

दो आंखें इधर, दो उधर ।

पर उनमें अथाह सागर, भावों का, रहस्यों का ।

रेवत चला गया ।

मास्टर ने मुझे फिर देखा ।

कितना दुराव था उस दृष्टि में !

हम दोनों जानते थे, परन्तु लड़का नहीं जानता था ।

बोला, "मुझे भी तो बताइए। क्या हुआ था ?"

लड़का उदास हुआ।

मैंने कहा, "अब चाय आनी चाहिए।"

सचमुच रेवत चाय ले आया।

मैं नहीं जानता मास्टर क्या सोच रहा था। किन्तु जीवन की पुनरावृत्ति में यह अवसर कैसा विचित्र था !

मैंने कहा, "मास्टर साहब ! चाय।"

"आप लीजिए।"

"आप ?"

"मैं भी पी लूंगा।"

"चीनी कितनी डालूं आपके लिए।"

"मैं, दो चम्मच।"

"गहरी नहीं है।"

"हो भी कैसे ? पहले चीनी नहीं डाली आपने।"

"जी, मैंने डाली थी।"

"मनुष्य का जीवन भी क्या है !"

"आपने क्या कहा ?"

"क्या मैंने कुछ कहा ?"

"नहीं, मुझे कुछ ऐसा भ्रम-सा हो गया।"

हम दोनों इतनी बेकार की बातें करते रहे, फिर भी शायद अभी तक हम शांत नहीं हो पाए थे।

लड़के ने मेरा सिगरेट का पैकेट उठाकर कहा, "अपनी सीकरी के रहनेवाले और ये गांववाले···दोनों में फर्क है।"

हम दोनों ने कुछ नहीं कहा।

लड़का समझ नहीं पाया।

मास्टर ने चाय की एक घूंट ली और कहा, "आप प्रोफेसर से इन्स्पैक्टर हो गए। यह क्या कम परिवर्तन है ?" फिर सोचकर कहा, "और मैं वही मास्टर बना रहा।" फिर सहसा जैसे वह चौंक उठा। उसने कहा, "सफल जीवन किसे कहते हैं प्रोफेसर साहब ?"

मैं उत्तर नहीं दे सका। कुंवर साहब ने कहा, "जिसमें कुछ छिपाने योग्य न हो!"

प्याला मास्टर के हाथ में हिल गया। मैं चुपचाप चाय पीता रहा।

"ठीक है?" मेरी ओर देखकर लड़के ने कहा, और वह अपनी चाय पीने लगा।

"अपनी-अपनी दृष्टि है।" मैंने कहा, "कुछ लोग इसे महत्त्व नहीं देते। केवल परिणाम देखते हैं।"

जब रेवत आया उस समय कुंवर कुछ लिख रहा था। मैं सिगरेट से सिगरेट सुलगा रहा था और मास्टर आंखें मीचकर लेटा था।

दूसरे दिन मैं बैठा था बरामदे में। सोचता था कि सत्तरह साल पहले की दुनिया कितनी अलग थी। एकदम कितना परिवर्तन आ गया था। राजा-महाराजा तब कितने पूज्य थे!

तब क्या था? खानदानों की इज़्ज़त! रियासती षड्यन्त्र। वैभव। अंग्रेजों की खुशामद। जनता की घोर दरिद्रता। एक गुलामी और उसकी घुटन। लेकिन फिर भी उस व्यभिचार के विरुद्ध स्वर नहीं उठता था। सबमें जैसे आतंक छाया हुआ था।

अब क्या है? जनता की विक्षुब्ध लहरें। उथल-पुथल। पलटते तख्त। खानदानों की छायाओं के खण्डहर। बगावत मगर बेतरतीब। लोगों में असन्तोष, लेकिन स्वार्थ के रास्ते जाने की भूख। लुटेरों की पोशाक बदली, मगर उनके भीतर हैवान वैसा ही पैदा हो गया।

भीतर से आवाज़ आई, "इंस्पैक्टर साहब! आ सकता हूं?"

"ओहो!" मैंने मुड़कर देखा। कहा, "आपने खूब पूछा। आइए न बाहर कुंवर साहब।"

वह बाहर आ गया। इस समय ऊनी कुर्ता और ढीला-सा पाजामा पहने था। कहा, "आप कुंवर साहब क्यों कहते हैं?"

वह कुर्सी पर बैठ गया।

"मास्टर साहब कहते हैं न?" मैंने उत्तर दिया।

उसने कहा, "मैं तो उनसे मना कर चुका हूं। पर मेरी बात का असर

हीं नहीं होता ! मानते ही नहीं।"

मैंने कहा, "क्यों ?"

"यह मैं क्या जानूं ?"

"आप भी तो मुझे नाम से नहीं पुकारते ?" मैंने हंसते हुए कहा। लिहाज़ा मैं भी नहीं बुलाता।"

"मैं कैसे बुला सकता हूं भला," उसने कहा, "मैं तो आपसे उम्र में छोटा हूं और आप मुझसे बड़े हैं।"

"आप इतने बड़े ज़मींदार हैं।"

"कितने बड़े भला !" उसने मुस्कराकर कहा।

मैं कुछ उत्तर न दे सका।

वह हंसा। बोला, "आप भी शर्माजी ! अब ज़मींदारियां खत्म हुईं। लेकिन यह बात आप भूलना नहीं चाहते। वैसे आप ठीक कहते हैं। अब भी सीकरी के लोग हमें अपने से अलग समझते हैं। पहले डरते थे। अब हमारे पास डरानेवाली चीज़ तो नहीं रही। फिर आप ही बताइए। मैं बड़ा हूं ! क्यों ?"

वह फिर मुस्कराया। "एक बात है।"

"वह क्या ?"

"जब आदमी के पास कुछ ज़्यादा साधन होते हैं तब वह यह नहीं मानता कि इस संसार में सब इंसान समान हैं। लेकिन जब पास कुछ नहीं रहता तब वह इससे भी आगे बढ़कर बातें करने लगता है।" यह कहकर उसने एक गीत की सी कड़ी सुनाई और उसको ही उसने फिर दुहराया।

मैंने यह पंक्ति कम्युनिस्टों के गीतों में सुनी थी।

कुछ थी वह, ऐसे जैसे, "इंसान की दुनिया में अब बदलेंगी हवाएं···"

मैंने कहा, "कौन जानता है ! देखिए ! एक साधू महाराज थे। उनके पास कहीं से एक पांच का नोट आ गया। वे यह कहते थे कि कोई ऐसा भी होगा जिसके पास पांच रुपये भी न हों ! लेकिन पांच रुपये भी हर-एक के पास नहीं होते। हम सब परमार्थ की बातें करते हैं, किन्तु पहले अपने को बचाने की कोशिश करते हैं, जहां हम हैं, वहां आंच नहीं आने देना चाहते।"

"दुनिया ! शर्मा साहब !" उसने कहा, "योंही चलती आ रही है और सदा ही असंतुष्ट रही है। जब जिसके पास सत्ता और अधिकार होते हैं, वह अन्धा रहता है, जिसके पास नहीं होते, वह उन्हींके लिए संघर्ष करता है। कथनी-करनी एक क्यों नहीं होती ?"

"आदर्श और बात है," मैंने कहा, "व्यवहार और है। अभावों में ग्रस्त रहनेवाले जब सत्ता पा जाते हैं, तब अधिकार बनाए रखने के कौन-से हथकंडों का प्रयोग नहीं करते हैं ! नई बात क्या होती है ? पहले हमें राजा के रिश्तेदारों की महत्त्वपूर्ण खबरें मिलती थीं, अब नेताओं के रिश्तेदारों की खबरें मिलती हैं। राजनीतिक नेता, अभिनेता और क्रिकेट के खिलाड़ियों को देखकर भीड़ें इकट्ठी हो जाती हैं। मैं पूछता हूं कि इन मनोरंजन के साधनों के सामने बुद्धिवादियों की कद्र कैसे हो सकती है।"

वह मेरी बात बहुत ध्यान से सुनता रहा। तब मैंने अनुभव किया कि इधर मैं एक बयालीस साल का आदमी था, जिसने जीवन के अनेक अनुभव किए थे, और जो अपने को असफल व्यक्ति गिनता था, और उधर था वह एक सत्तरह साल का लड़का, जिसके सामने सारा जीवन पड़ा था। इस आयु में हर आदमी शायद यही समझता है कि उसके जीवनकाल में ही संसार अच्छा बन जाएगा।

मैंने कहा, "तो मैं तुम्हें क्या कहूं ?"

उसने कहा, "मेरा नाम कृष्ण है। क्या आपको अच्छा नहीं लगता ?"

मनुष्य की मूल समस्या उसके नाम की नहीं, उसके नाम के साथ के आडंबरों की है। सामाजिक परिस्थिति में ही हम नामों को महत्त्व देते हैं। परसू, परसा, परसराम की कहानी कौन नहीं जानता। एक संगीत के उस्ताद ने अपने बच्चों का नाम बिल्ला और कुत्ता रखा था। किसीने पूछा कि यह आपने कैसे नाम रखे हैं। उस्ताद ने कहा कि यही ठीक नाम हैं। अगर काबिल हुए तो बिल्ला बिल्लौरखां और कुत्ता कुतुबखां बन जाएगा।

कृष्ण ने कहा, "शर्मा साहब ! जिन्हें नीच कहा जाता है, वे नीच क्यों हैं ? क्या आप उन्हें सचमुच नीच समझते हैं ?"

मैंने कहा, "सात साल पहले संसार का एक भयानक युद्ध समाप्त हुआ है। तुम्हें उसका अनुभव नहीं हुआ है। उस युद्ध के प्रारम्भ में हिटलर ने यहूदियों की हत्याएं कराई थीं और जर्मनी को श्रेष्ठ रक्तवाले आर्यों का देश बताया था। पर वह एक अवैज्ञानिक बात सिद्ध हो चुकी है। मैं जब देखता हूं तब आश्चर्य होता है कि इस भारत में सदा से ही आत्मा की समानता का राग अलापा गया है, फिर भी हम सब ही अपने व्यवहार में बंधे हुए हैं। हम जाने क्यों जो कुछ कहते हैं, उसपर अमल नहीं करते।"

"इसका कारण आप क्या समझते हैं?" उसने पूछा। मैंने मन ही मन सोचा कि इस आयु में किसका हृदय साफ नहीं होता। नई आयु का व्यक्ति कितनी शीघ्रता से विश्वास कर लेता है। क्यों? क्योंकि वह अपने किसी निहित स्वार्थ में फंसा हुआ नहीं रहता।

मैंने कहा, "सन् १९३१ में मैं भी यही समझता था कि देश जब स्वतन्त्र हो जाएगा तब ये सब खराबियां दूर हो जाएंगी। एक बात सोचता हूं कि आज़ादी की लड़ाई के वक्त हमारे चरित्र क्यों बिगड़ रहे थे?"

"आप क्या कहते हैं?"

"ठीक कहता हूं मेरे दोस्त! ज़्यादातर लोग आज वे हैं जो सन् '१० के करीब पैदा हुए हैं, मैं कहूं १८९० के बाद पैदा हुए हैं। उनका चरित्र अच्छा होना चाहिए। पर ऐसा नहीं है। उनका चरित्र काफी गिरा हुआ है। और जो नौजवान पद पा रहे हैं वे तो और भी छोटे हैं। या यह कहूं कि वक्त आने पर सब कुछ बदल सकता है। यदि ऐसा है तो भरोसा किसका किया जाए! आज उस बात को कितने दिन बीत गए, जब भारत में भीड़ें महात्मा गांधी की जय बोलते निकलती थीं। तब जातिवाद का हम विरोध करते थे। आज जातिवाद बढ़ रहा है। असल में यह ज़हर मौजूद तो तब भी था, परन्तु अंग्रेज़ों ने इसको उठने नहीं दिया था। अब चुनावों के कारण उसने अपना सिर उठा दिया है।"

उसने कहा, "तो फिर इसका हल क्या है?"

"क्या लोगों को याद है कि उनके सामने ही कितनी समस्याएं बदल चुकी हैं?" मैंने कहा, "कैसा हल? किसके हल से किसकी समस्या सुलझी है! दुनिया तो भेड़-चाल है। इसके नेता बनकर सदैव कुछ लोग रहे हैं।

बाकी लोगों को इतना अवकाश ही कब मिलता है कि वे संघर्ष के अगुआ बनें। हम जैसे लोग जिनके पास साधन नहीं हैं वे क्या करते हैं ! हम अपने परिवार में घिरे रहते हैं कृष्णप्रसाद !"

"कृष्णप्रसाद !" उसने दुहराया।

"क्यों ?" मैंने पूछा।

"बस ! यह ठीक है। यह नाम सुनकर मुझे अच्छा लगता है।"

मैंने कहा, "मैं तुम्हें कृष्ण कहा करूं ?"

"आप मुझे बहका रहे हैं ?"

"भगवान तुम्हें सुखी रखें कृष्ण !" मैंने कहा।

"इतनी-सी बात के लिए ?"

"यह क्या कम बात है ?"

"मुझे तो इसमें कोई महत्त्व दिखाई नहीं देता।"

मैंने कहा, "अच्छा कृष्ण ! एक बात बताओगे ?"

"पूछिए।"

"मैं जब युवक था तब ईश्वर को नहीं मानता था, तुम मानते हो ?"

"किस ईश्वर को ?"

"ईश्वर भी क्या अनेक हैं ?"

"ईश्वर एक कब था ?"

"यह बात मुझे स्पष्ट नहीं हुई।"

"तो फिर इतने मत, इतने धर्म क्यों हैं ? मनुष्य इतना असहिष्णु क्यों है कि अपने को ही ठीक समझता है। आप बताइए मुझे ! समझाइए !"

कृष्ण से प्रभावित हुआ मैं। लड़का विनीत था, पर प्रश्न करता था। प्रश्न करके दूसरा प्रश्न नहीं करता था, पहले अपने पहले प्रश्न का उत्तर चाहता था। इस प्रकार पग-पग बढ़ना एक शुभ लक्षण होता है।

मैंने कहा, "मैंने जब कविताएं लिखी थीं तब ऐसे प्रश्न मेरे सामने भी आए थे।"

"आप लिखते थे ?"

"कभी पहले।"

"अब भी लिखते हैं ?"

"नहीं, चला नहीं ।"

"क्यों ?"

"किसीने सुना ही नहीं ।" मैंने कहा, "और इतना मुझमें धीरज न था कि कोई न सुने फिर भी लिखता । तुम कुछ लिखते हो ?"

वह सकपका गया ।

मैंने कहा, "तुम ज़रूर लिखते हो ।"

"आप कैसे जान गए ?"

"तुम्हारे भावों से । लिखते हो न ?"

"हां, थोड़ा-बहुत ।"

"सुनाओ फिर ।"

"मैं क्या सुनाऊंगा आपको ! आप सुनाइए । आपने कविता लिखी थी । एक-आध याद होगी ।"

"याद तो उन्हें होती है, जिन्हें सुनानी पड़ती है । मेरे पास कोई श्रोता ही नहीं था । तब न रेडियो से प्रचार होता था, न इतनी पत्रिकाएं थीं । तब साहित्य में इतना संघर्ष भी न था ।"

"संघर्ष !" उसने कहा, "अब साहित्य में संघर्ष है ?"

"तुम जब साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करोगे तो स्वयं जान लोगे ।"

"एक बात पूछता हूं । साहित्यकार सब ही लिखते हैं ?"

"हां !"

"क्यों ?"

"उनकी अपनी-अपनी बात उनके पास कहने को होती है ।"

"वे सब लोक को अच्छा बनाने के लिए लिखते हैं । फिर उनमें आपस में संघर्ष क्यों होता है ? एक ही सेना के व्यक्ति आपस में तो नहीं लड़ते ? एक ही डाली के गुलाब आपस में तो नहीं टकराते ?"

"लेकिन जिस समाज में हम रहते हैं, वहां आगे बढ़ना भी एक अपने-आप में पूरा काम हो गया है । अतएव जब साहित्यकार अपनी साधना-भूमि—साहित्य को छोड़कर दूसरी जगह सम्मान चाहने की तृष्णा में भटकने लगता है तब ऐसी ही विषमताएं जन्म लेती हैं ।"

"आपने बड़ा अनुभव किया है।" उसने कहा, "मुझे आपके साथ रहने का मौका ही कब मिलेगा।"

"मास्टर साहब नहीं बताते ?"

"वे बहुत अच्छे आदमी हैं। वे उदात्त को बताते हैं। उसके मार्ग के व्यवधानों को नहीं बताते।"

"तुम जब ऐसी भाषा आजकल के समाज में बोलोगे तो लोग हंसने लगेंगे।"

वह भी हंस दिया।

मेरे काफी कहने-सुनने पर उसने मुझे एक कविता धीमे-धीमे स्वरों से सुनाई, "कविता का नाम है—वन का फूल···

ओ विजन वनफूल !
तू खिला है
वायु पर निज गंध को
बिखरा रहा है,
मैं अचानक आ गया हूं,
इसलिए मैं देख पाया—
रूप की बिखरी किरन
तुझमें सिमटकर मुस्कराई,
देखता है किन्तु इस सुनसान में आ
कौन यह तेरी लुनाई ?
इसलिए क्या मैं कहूं अब
यह कि तू भगवान की है भूल ?
या कि ग्रह-उपग्रह अनेकों सृष्टियां हैं
एक वन-सी
और उनमें भूमि अपनी
एक है वनफूल ?
देखता है कौन फिर सौन्दर्य इसका ?"

वह चुप हो गया। मैंने कहा, "वाह ! वाह ! धन्य हो तुम ! तुमने वन के फूल में सारी सृष्टि को जोड़ दिया। अपनी भूमि भी क्या एक जंगल

में उगे फूल-सी है ? यह प्रश्न तुमने कैसा उठाया है ? इसका तात्पर्य तो बड़ा गहरा है। सौन्दर्य अपने-आपके लिए है, या मनुष्य के लिए ? यह तो बड़ा अच्छा प्रश्न है। क्या तुम दर्शन भी पढ़ते हो ?"

"थोड़ा कुछ।"

"किताबें तुम्हारे पास काफी हैं ?"

"हां, मास्टर साहब को इसका श्रेय है। वे ले आए हैं।"

"कृष्ण ! तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल है।"

"आप तो शर्मिन्दा करते हैं।"

"तुम ऐसा ही कह लो," मैंने कहा, "लेकिन मैंने देख लिया। भविष्य में तुमको सफलता मिलेगी।"

कृष्ण ने सिर झुका लिया। हम लोग फिर इधर-उधर की बातें करने लगे। बातें करते काफी समय निकल गया था।

कृष्ण भीतर चला गया।

तब मैं अकेला सोचने लगा—क्या यह वही लोहपीटे का लड़का है ?

मास्टर साहब बाहर आए। उनके मुख पर एक विचित्र प्रकार की जिज्ञासा थी। वे जैसे अपने-आपको प्रकट नहीं करना चाहते थे।

मैंने कहा, "मास्टर ! मैंने जो सोचा था वह भूल थी। तुमने अच्छा काम किया।"

"क्या शर्मा साहब ?"

"तुमने माटी को सोना बना दिया।"

मास्टर हंसा। बोला, "नहीं शर्मा साहब ! मैंने ऐसी गलती नहीं की।"

"क्यों ?"

"मैं माटी जैसी अनमोल चीज़, जिसमें जीवन का ताप है, जिसमें रस, गंध और जीवन है, उसका सोना जैसी झूठी चमकदार और मनुष्य का हृदयहीन शोषण करनेवाली वस्तु क्यों बनाता ?"

मैं उत्तर नहीं दे सका।

मास्टर ने कहा, "मैंने इसीलिए सोने को माटी बनाया ताकि वह जी सके, वह इस धरती के रस से सिंचित हो सके, अपनी सार्थकता प्रति-

पादित कर सके। देश की यह पीढ़ी आगे चलकर अवश्य एक बड़ा बोझ उठाएगी। उस समय हम इसकी बुराई करने को बचे न रह जाएंगे। ज़मींदार साहब नहीं समझते कि ज़माना किस करवट बदल रहा है। हमें भी उसीके अनुसार अपने को बदल लेना चाहिए।"

"पर बाप का नर्म दिल होता है मास्टर साहब! कौन उत्तर देगा? पर आप लोग वैर कैसे आ गए?"

"बूढ़ों का विरोध करना," मास्टर ने मेरी बात टालते हुए कहा, "युवकों में सदैव रहा है। शायद पहले यह संघर्ष बचाने को ही वानप्रस्थ और संन्यास की मर्यादा रखी गई थी। आजकल वह बात ही नहीं है।"

"प्रगति कहां है आश्रम में?"

"आप मेरे पेशे और सूरत से यह अंदाज़ मत लगाइए कि मेरे भीतर कितने अरमान हैं। उनकी पूर्णता उनका कोई न कोई स्वार्थ हो चली है।"

"प्रोफेसर साहब! हर आदमी का एक सपना होता है। लेकिन हर सपने के लिए आंखें मींच लेनी पड़ती हैं।"

मेरा स्वर सुनकर मास्टर फिर बोलने लगा।

अगले दिन मास्टर और कृष्ण का प्रोग्राम बन गया। वे सीता के कुण्ड देखने चल पड़े। लगभग तीन-चार मील दूर पहाड़ पर थे वे सुन्दर कुण्ड। मैंने इतना पढ़ा अवश्य था कि बयाना के पालवंश के अंतिम राजा मदनपाल ने तुर्कों के आक्रमण में हारकर उन कुण्डों के पास लगभग १३वीं शताब्दी में शरण ली थी। इतने पुराने थे वे कुण्ड! लेकिन मैं नहीं जा सका। मुझे अपने काम से उस दिन भुसावर जाना था। मैं सवेरे बस से चला गया। जब करीब चार की बस से लौटा तो मेरा मन झनझनाकर रह गया। डाकबंगले के सामने लोहपीटे आ गए थे।

कितनी-कितनी बातें न घूम गईं मेरे सामने।

चाय पीकर मैंने रेवत से पूछा, "ये कौन लोग हैं?"

"ये! लोहपीटे हैं हुज़ूर! एक न एक दल हर साल आता है।"

अब के तो कोई बच्चा ऐसा नहीं, जो असुरक्षित रह जाए।—यह

ध्यान मेरे भीतर घुमड़ता रहा ।

मैं सोचने लगा । ये आकस्मिक घटनाएं हैं, या होनहार हैं ! या इसके पीछे कोई उद्देश्य है ? फिर मन ने पूछा, 'उद्देश्य ! किसका ?' संस्कार ने कहा, 'भगवान का !' दर्शन की पृष्ठभूमि ने कहा, 'उसे तुम जानते हो ?' और आधुनिकता ने हंसकर कहा, 'यदि भगवान है, तो उसे बनानेवाला कौन है ?'

सांझ घिर आई, वन पर छाया गिरने लगी । पक्षी लौट आए थे, उनके लिए दिन की कशमकश दूर हो गई थी ।

मैं भीतर कमरे में चला गया ।

नींद आ रही थी । द्वार के बाहर देखा, लोहपीटों की आंखें सुलग रही थीं । मैं सो गया ।

सवेरे देखा तो मास्टर साहब पलंग पर बैठे आंखें मल रहे थे । मैंने सिगरेट जलाई ।

"कृष्ण कहां है ?"

"सुबह टहलते हैं कुवर साहब !"

"कल भी टहले थे ?"

"क्यों, कल क्या सुबह नहीं हुई थी ?"

मुझे हंसी आ गई । कहा, "वाह ! क्या बात कही है मास्टर साहब! रात आपने बड़ी देर कर दी ? सीता कुण्ड में इतनी देर लगाना तो ठीक नहीं । वियाबान ठहरा ।"

"ऊपर वियाबान है, नीचे तो गांव है एक ।"

"फिर देर वहीं हुई ?"

"नहीं जी ! यहीं सफेद महल के सामने बैठे थे । सच तो यह है कि इस लड़के से मुझे बड़ा प्यार हो गया है । अपने बच्चे हैं मेरे शर्मा साहब । क्या बताऊं, उनसे मुझे वह लगाव ही नहीं होता जो इससे है ।"

"सदा साथ रहे हैं ।"

"सच और भी है ।"

"वह क्या ?"

"न जाने क्यों ! मैं यों तो कुछ भी नहीं । पर कुछ हो जाने की इच्छा थी ! वह इच्छा इसे कुछ बनाकर पूरी हो जाते देखना चाहता हूं ।"

यह कितना अजीब-सा लगता है कि दुनिया में हम ही नहीं, हर कोई कुछ हो जाना चाहता है । उसके भी अपने सपने हैं, जो उसके मन में पल रहे हैं । मैं जब यह सोचता हूं तो मुझे आश्चर्य होता है ।

मास्टर साहब ने कहा, "प्रोफेसर साहब ! मेरे पिता एक साधारण हारी थे । हारी तो आप जानते होंगे ?"

"हल चलानेवाला ।"

"जी हां, जो दूसरे के बैल चलाए । तन्खाह पाते थे । अब उनकी पेंशन हो गई है ।"

"उन्हें पुराना मालिक क्या देता है ?"

"कुछ नहीं ।"

"तो रोशनी कैसी है ?"

"ठीक है । बिजली में ठीक जागरण का संघर्ष ही जल बरसाता है ।" वे जैसे स्थिर हो गए ।

"कृष्ण ने कविता लिखी है, मुझे बहुत पसन्द है । याद हो गई है—

"बीज का सुपना अंकुर बन पूरा तो नहीं हुआ,
पात बना, डाल बना,
कलिका बन फूल बना,
फिर भी नहीं पूर्णता ने प्राण को कहीं छुआ ।
बीज का अंत है बीजों में बदल जाना ?
इतनी-सी सार्थकता, अंत किन्तु भला कौन
लंबी यह यात्रा क्यों ?
पुनरावृत्ति ही में गति का भ्रम होता क्यों ?

"कविता तो लम्बी है, पर मुझे इतनी ही याद है । जब से यह लड़का कवि बन गया है, मैं इसे अपने बराबर का सा मानने लगा हूं ।"

"और है भी ऐसा ही समझिए ।"

"आप कहें तो बम्बई के लिए कलकत्ता कह दिया करूं । इसमें मेरा क्या बिगड़ता है ?" लड़के ने कहा ।

मैंने कहा, "मास्टर साहब! हमेशा से अकेला रहा हूं। ममता के लिए आदमी पत्थर में भी सहारा खोज लेता है।

"जानता हूं। पर पत्थर पर वह अपना असर नहीं डालती।"

"क्या मैं पत्थर हूं ?"

"यह मैंने कब कहा है !"

मैं काम से बाज़ार चला गया। लौटा तो कृष्ण नहीं था, न मास्टर साहब थे। रेवत ने खाने की थाली ला दी।

"वे लोग कहां गए ?"

"पता नहीं हुज़ूर।"

"मास्टर साहब का भी पता नहीं ?"

"वे तो घर गए हैं। कुंवर साहब अभी तो कुछ लिखते थे, अब कहीं उठकर चले गए हैं।"

खाना खाते-खाते मेरी नज़र पड़ी। कृष्ण का फाउण्टेनपेन खुला छोड़ दिया गया था, खुली कापी पर पड़ा था। उत्सुकता जागी। झुककर देखा। वह नई कविता लिख रहा था। पढ़ा मैंने···

भोर तो नित्य होती है
पर उजाला आज लगा···
लहरें हर रोज़ आती थीं
पर आज मन भीग, जगा···
　　यह आज क्या हुआ···
माटी के रूप कई दिखते हैं
पर यह कौन था जो मुझे आज मनभाया···
कांटा-सा चुभता है
फिर भी तो अच्छा-सा लगता है
　　यह आज क्या हुआ ?
किसीकी आंखों में
ऐसा क्या दिखा मुझे
जो मैंने समझ लिया

दिख गया मुझको अनदेखा ही जीवन का
यह आज क्या हुआ ?
टूटी सितार पर ज्यों अमरता का गीत चढ़ा
फूल भी मन बीच मेरे क्यों है गड़ा
खान का खराद नहीं चढ़ा टूक पत्थर का
क्या वह आ मेरे हाथों में
हीरा बन जाएगा ?
यह आज क्या हुआ ?
मैंने यह सूनापन जाना क्यों ?
आज उठी ऐसी है कसकन क्यों
सूने कछार पर उठी एक दर्द की हिलोर-सी···
बहा क्यों जाता हूं···

मैंने कविता पढ़ी तो कुछ अजीब-सा लगा। प्रेम की छाया कभी भी छिपती नहीं। आंचल का दीप तो खतरनाक ही होता है। जाने कब अपने-आपको जला बैठे।

रेवत के आ जाने से बात रुक गई। वह थाली ले गया।

अगले दिन जो मैंने देखा तो चौंक गया। मास्टर जूतों पर पालिश कर रहा था। उसने भी देख लिया था। डाकबंगले के पीछे से नाला आता था। उधर कदम्ब बहुत थे। मोती, लाली और कृष्ण बातें कर रहे थे। एक लड़की खड़ी थी। नाक-नक्श की अच्छी।

"इसी लोहपीटे की बेटी है। चम्पा," मास्टर बड़बड़ाया।

मैंने कुछ नहीं कहा।

"आज यह किसलिए ऐसा खुश है ?" मास्टर फिर बोला। उसके स्वर में ही विक्षोभ था। हम दोनों फिर नहीं बोले। जब कृष्ण लौटा तो मास्टर ने कहा, "कुंवर सा'ब !"

"जी।"

"आप कहां गए थे ?"

"मैं ? जीवन की विचित्रता देखने गया था। इन लोहपीटों में।"

मास्टर का मुख विवर्ण हो गया। पर रेवत खाना ले आया था। हम

बैठ गए। कुंवर में एक उत्साह था। मास्टर भी चुपचाप थाली पर झुक गया। उनको देखकर मैं भी तब धीरे-धीरे खाना खाने लगा।

कृष्ण ने कहा, "आपने पूछा, मैं कहां गया था ! बताऊं ?"

मास्टर ने कहा कुछ नहीं। आंखें उठाईं।

"आपने ही तो कहा था कि लेखक को जीवन की गहराइयां देखनी चाहिए।"

"पर व्यवहारकुशलता भी तो कुछ है। कितने सिर पर चढ़ेंगे वे लोग ?"

"तो क्या सिद्धान्त एक अलग चीज़ है ? कैसा जीवन है प्रोफेसर साहब ? एक प्रतिज्ञा के पीछे वे लोग घर छोड़ चुके हैं। किसी सिद्धान्त के पीछे उनका जीवन ही बदल गया है।" कृष्ण ने पानी का घूंट लिया।

मास्टर उत्तर नहीं दे सका।

कृष्ण ने फिर कहा, "मास्टर साहब, एक ही समय में इस धरती पर कितने लोग रहते हैं और सब ही अपनी मान्यताओं को ईश्वरीय समझते हैं। इन लोहपीटों को आपने इस योग्य नहीं समझा कि इनसे बातें भी की जाएं ? हम लोग जो सवर्ण हैं, क्या हमारे रक्त में कुछ विशेषता है ? और फिर लोहपीटे नीच नहीं। मैंने मोती से पूछा है। उसने बताया है कि वे लोग ठाकुर हैं।"

"वे कुछ भी हों, पर अपने जैसे तो नहीं हैं।" मास्टर ने उत्तर दिया।

"हम कहते कुछ हैं," कृष्ण ने कहा, "करते कुछ हैं। आप सोच सकते हैं कि पत्तल बिछाकर राणा प्रताप खाना खाते थे। वे घास पर सोते थे। किसलिए ? स्वतन्त्रता के लिए। कौन जाने लोहपीटे उसी मेवाड़ के राजपूत हैं ! यह स्वतन्त्रता के लिए भटकी हुई एक वीरों की टोली है।"

मास्टर साहब उत्तर सोचने लगे।

कृष्ण ने फिर कहा, "और मानदण्ड बदल गए हैं। लेकिन प्रश्न है मनुष्य का इस संसार में रहने का मूल कारण। किस रूप में वह ठीक रहता है ? बलिदान और प्रतिशोध हिंसा है या सम्मान ?"

कहते-कहते कृष्ण के जैसे रोंगटे खड़े हो गए।

"लेकिन आपके पिता," मास्टर ने कहा, "तो ऐसा नहीं सोचेंगे। मेरी

ज़िम्मेदारी सोचिए। उनका नमक खाया है।"

"तो क्या हुआ ?"

"आपको खानदान की इज़्ज़त याद रखनी होगी।"

"आप क्या पुरानी बातें करते हैं मास्साब ! आपने जो कुछ मुझे पढ़ाया है, उससे मैं यही जान पाया हूं—Personality is a state of tension and can continue only if that state is maintained[1] निकलसन ने किस क्षण में ऐसा कहा था वह मैं समझने की चेष्टा कर रहा हूं।"

"निकलसन भारतीय नहीं था।"

"भारतीयता इसमें कहां अड़ंगा डालती है ? क्या महापुरुष बिना किसी आवेश के कोई काम कर सकते हैं ? मैं अभी नहीं जानता, पर स्थितप्रज्ञ होना भी एक महान अवस्था है। आवेश वह नहीं है जो उतर जाए। जब वह स्थिर हो जाए तभी उसमें गौरव है।" कृष्ण ने हाथ फैलाकर कहा, "हम अपनी संस्कृति के घिरावों में रहते हैं। और हमारी आस्थाओं का जन्म हुआ है हमारे रहन-सहन के तरीके से। आप साधनों से मानसिक स्थिति को जांचते हैं, परन्तु वस्तुतः साधन हमारी आवश्यकताएं पैदा करते हैं। हम सब यदि जंगली अवस्था से सभ्यता की ओर आए हैं तो किसलिए ? जीवित तो हम तब भी थे। जानवरों से तब भी अच्छे थे। लेकिन हमारे दिमाग को नई-नई बातें सूझती थीं। हम सोचते थे पानी में चलें, आकाश में उड़ें। वह सब हमने क्रमशः कर दिखाया और आकाश अब भी हमारे लिए अभेद्य बना है, पर कौन जाने हम उसे भी जीत लेंगे ?" उसका स्वर बदल गया, "कम्युनिस्ट इतने यांत्रिक क्यों हैं ? क्योंकि उनका दर्शन यन्त्र पर टिका है, उन्होंने यन्त्र के आधार पर मनुष्य की बुद्धि को आंका है। उनके पास समृद्धि की दौड़ है, पर अधिकार की प्यास को वे नहीं जीत पाए हैं। जीत भी पाएंगे या नहीं, इसे कौन जानता है। पर आप अपने को लीजिए। आप स्वतन्त्र और सभ्य भारतवासी हैं। क्या आप किसी भी तरह अपने को किसी विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़े देश के व्यक्ति से कम समझते हैं ?"

---

१. महान व्यक्तित्व है एक आवेश की सी अवस्था, और वह तभी बनी रह सकती है जब उसको बनाए रखने की चेष्टा की जाए।

प्रश्न टंगा रह गया।

जब कृष्ण चला गया तो मैंने मास्टर की ओर देखा।

मैंने कहा, "आप सोचते होंगे कि यह लोहा पीटनेवाला कौन है जो आज सवर्ण बन गया है। यह आप ही का बनाया हुआ है मास्टर साहब! हम इसी तरह पीढ़ी-दर पीढ़ी सत्य का प्रचार करते हैं, और स्वयं ही उसकी काट करते रहते हैं। हम बराबरी देना चाहते हैं, पर कोई बराबर बन जाता है तो अपनी सीमाओं में बांधे रखना चाहते हैं।"

मास्टर ने कहा, "रुकिए! रुकिए!"

उसका स्वर-आहत था।

"वह अंधेरी रात," मैंने कहा, "याद है वह त्रिकालज्ञ साधु! वह मैं ही पुलिस से डरकर साधू बना था।"

मास्टर अवाक्-सा रह गया। मैं हंसा।

मैंने कहा, "आपने मोती को नहीं देखा? मोती में एक व्यक्तित्व है। हर मनुष्य का अपना एक अलग व्यक्तित्व होता है। वह मध्यकालीन व्यक्ति ही-सा है।

"मास्टर ने कहा, "आपने मेरी दिलचस्पी जगा दी है।"

"आइए घूम आएं।"

"आपकी मोती से कैसे जान-पहचान हो गई?"

"क्योंकि मैं साधू था।"

वह फिर चौंका, "अच्छा तब?"

"वह जीवन भारत में ऐसा है कि आप सबसे मिल सकते हैं।"

हम दोनों उधर ही निकले।

मास्टर ने कहा, "आप एक वस्तु का निर्माण करें और वह आप ही का नाश करने पर उतारू हो जाए तब? तब आप क्या करेंगे?"

मैंने कहा, "मनुष्य है। उसको भगवान ने बनाया और वह अब भगवान को नहीं मानता। यह आधुनिकता है। भगवान ने मनुष्य का क्या कर लिया?"

देखा मोती। इस समय सिर पर फेंटा नहीं था। लोहपीटे लोग सिर पर पाग नहीं बांधते। शायद पगड़ी इज़्ज़त की चीज़ थी। देश छोड़ते समय

उन्होंने इसका भी अहद लिया होगा कि जब तक जीत न होगी, पगड़ी नहीं बांधेंगे।

लाली सामने थी। अब उसकी देह कुछ स्थूल हो गई थी। उसके माथे पर घूंघट था, ऊपर हटा दिया गया था। उसके शरीर पर मैले कपड़े थे, वैसे ही जैसे मोती के मैले थे। और एक लड़की। चम्पा उसका नाम। वह बैठी थी, रोटी खा रही थी। वह हंसमुख थी और न जाने कैसे उसके मुख को देखकर मुझे उसमें कृष्ण की झाईं याद आ गई।

मैंने मास्टर को देखा। वह उस लड़की को कनखियों से देख रहा था। मैंने उसका सन्देह समझा।

जाने क्यों मेरे अनुभव ने मेरे भीतर सरककर कान के पास आकर कहा, 'इस लड़की को देखते हो?'

'क्यों?' मैंने अपने-आपसे पूछा।

'बनो मत।'

'भला बात क्या है?'

'स्त्री ने संसार में बहुत-बहुत काम कराए हैं।'

'पता नहीं क्यों होता है ऐसा। एक तो उसे देखकर झूमता है और दूसरा उसीको देखकर तनिक भी प्रभावित नहीं होता।'

'द्रौपदी, सीता, हैलेन, शीरीं, लैला, पद्मिनी और न जाने कितनी हो चुकी हैं। बता सकते हो उन्होंने क्या-क्या नहीं किया?'

'मुझे क्या पता?'

'बको मत। अपने-आपको धोखा न दो।'

'लेकिन यह एक सन्देह-भर ही तो है?'

'और क्या चाहते हो?'

'हमारा समाज स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों के बारे में बहुत रूढ़िपरक है।'

कोई भीतर हंस पड़ा।

'क्यों? इस व्यंग्य से क्यों हंसते हो?'

'इसलिए कि तुम शाश्वत सम्बन्धों को झुठला रहे हो?'

'सम्बन्ध तो सामाजिक हैं।'

'वह तो बन्धन है।'

'तो फिर ?'

'फ्रायड ! फ्रायड !!!'

मैं और नहीं सुनना चाहता था।

मुड़ चला। मास्टर भी मेरे साथ ही घूम दिया था। उसने भी रुककर बातें करने की कोई इच्छा नहीं की।

हम लौटे।

मास्टर स्तब्ध था।

कमरे के बाहर हम दोनों ने एक-दूसरे की ओर देखा।

क्यों देखा ?

शायद हम दोनों एक ही बात सोच रहे थे, पर प्रथम अभिव्यक्ति किसके मुख से हो, इसीकी दोनों प्रतीक्षा कर रहे थे।

कमरे में कृष्ण था।

मास्टर ने मुझसे धीरे से कहा, "प्रोफेसर साहब ! कई वर्ष पहले जब यह छोटा था, तब मैं इसे एक दफे वैर दिखाने ले आया था। इस बार जब मैं घर आने को हुआ तो बाबू साहब से इजाज़त लेकर यह भी तैयार मिला कि मैं भी चलता हूं। फिज़ूल। लेकिन मैं रोक नहीं पाया। मुझे रोकने का हक भी क्या था। बाबू साहब ने भी कह दिया—ले जाइए। मोटर में जाइए। जी बहल जाएगा इसका। और अब मैं क्या कर सकता हूं ?"

जब मास्टर चुप हो गया, मैं कमरे में गया। कृष्ण कुछ लिखकर पढ़ रहा था।

मैंने कहा, "कुछ लिखा है कृष्ण ?"

"आप कहां गए थे ?"

"ऐसे ही।"

"मास्साब कहां हैं ?"

"क्यों ?" मास्टर ने कहा, "मैं अभी आ गया।"

"क्या लिखा है आज ?" मैंने वह उदासी तोड़ने को कहा।

"हां कुछ, बैठे-बैठे।"

लेकिन मास्टर साहब अब भी गुमसुम बैठे थे। उनका वह गांभीर्य देखकर कृष्ण को अजीब-अजीब-सा लग रहा था।

"सुनाओगे ?" मैंने कहा।

मास्टर ने पलंग से तकिया लेकर घुटनों पर रखकर कुहनियां टेकीं और अपने हाथों पर अपना मुंह रख लिया।

"सुनिए।" कृष्ण ने कहा।

मैंने अपनी आंखें घुमाईं और मास्टर की ओर देखा। कृष्ण ने कापी उठा ली थी। मैं सब देखता रहा।

मास्टर साहब लेट गए। उनके भीतर कैसा द्वन्द्व था। वे उस समय उस लड़के के अभिभावक थे, या उस समय वे एक तनख्वाह पानेवाले नौकर थे।

कृष्ण ने कहा, "सुनिए।"

कापी देखी और पढ़ने लगा :

"धूलि से हम उगे
धूलि से वे उगे
फूल हम
फूल वे
भेद फिर किसलिए,
एक दिन इस तरह
कह उठा जब पवन,
शोर उठता रहा,
पंथ पर गूंजता—
द्वेष-शंका मिले
युद्ध था झूमता···
किन्तु अपनी जगह
खिल रही थी मधुर
एक चम्पा कली···
रूप से स्नात थे—
भूमि औ' वह गगन।"

हठात् मास्टर साहब का कठोर स्वर गूंज उठा, "कृष्ण !"

कविता रुक गई।

कृष्ण की आंखों में विस्मय झलका।

"यह कविता तुमने कैसे लिखी ?" मास्टर के स्वर का कर्कश उन्माद छिपा नहीं रह सका।

"जैसे और लिखीं। क्यों ?"

"यह ठीक नहीं है।"

"क्यों ?"

"मैं कह नहीं सकता। तुम खुद समझदार हो।"

"क्या मतलब ?"

"तुम मालिक हो, मैं नौकर हूं।"

"नहीं, आप मेरे गुरु हैं।"

मास्टर की आंखों में आंसू आ गए।

पुकारा, "कृष्ण ! मेरे बेटे ! तू नहीं जानता यह दुनिया कितनी बुरी है। तू कितना सुन्दर है ! तेरी आत्मा हंस की सी है।"

कृष्ण ने कहा, "तो ?"

"यह संसार कुटिल है।"

"यह तो आप कबीरदास की सी बातें कर रहे हैं," कृष्ण ने कहा।

"मैं आज इतना ही कह सकता हूं तुमसे कृष्ण !" उनका स्वर जैसे रुंध-सा गया ! तब मास्टर को फिर जैसे याद आया। कहा, "तेरी शादी होनेवाली है।"

कृष्ण ने मुझे देखा और कहा, "क्या यह ठीक है शर्मा साहब !"

"क्या ?"

"मेरी शादी ! बिना मेरी मर्ज़ी के !"

मैं चुप रहा।

"जिसे मैं जानता नहीं, उसके साथ मुझे ज़िन्दगी-भर रहना पड़ेगा ?"

मैं नहीं समझ पाया। गांवों में योंही शादियां हो जाती हैं। यह सवाल ही वहां नहीं उठता। अंग्रेज़ी पढ़ते ही यह एक समस्या कैसे हो जाती है ?

"इस संसार में प्रेम कहां है ? यहां तो सब क़र्ज़ चुकाते हैं ! मुझे किसने जन्म दिया ? मुझे पाला गया है। उस दूध और रोटी की कीमत

मुझे चुकानी है। मैं रूढ़ियों को नहीं चाहता। मैं जीवन को देखना चाहता हूं। प्रोफेसर साहब ! आपने काफी देखा है, आप कुछ बताइए न।" कृष्ण ने फूत्कार किया।

"परम्परा यही है कृष्ण !" मैंने कहा, "विद्रोह किससे करना चाहते हो ?"

"विद्रोह ! समाज से। वासना और प्रेम में अन्तर है।"

मास्टर हतबुद्धि-सा खड़ा रहा। वह आहत था।

"ये दोनों दो तरह की भूख हैं।" मैंने उत्तर दिया।

कमरे में फिर सन्नाटा छा गया। थोड़ी देर बीत गई। कापी एक ओर सरकाकर अधीर-सा होकर कृष्ण चला गया।

मैंने कहा, "मास्टर साहब ! चिनगारी किधर है ?"

"क्या मतलब ?"

"लपट बनेगी।"

वे बोले नहीं।

"आप सुन रहे हैं ?"

"जी।"

"हत्या हो रही है सत्य की।"

"आप बड़े निर्दय हैं।"

"खास बहिन है।"

"प्रोफेसर साहब !!!"

"फिर आप चुप क्यों हैं ?"

"मैं क्या करूं ?"

"चुप रहिए। देखते रहिए सब।"

"मत कहो, मत कहो शर्मा साहब," मास्टर ने मेरे हाथ पकड़ लिए।

"क्या न कहूं ? आज भी सच न कहूं ?"

"मैं आपके पांव पकड़ता हूं।"

"उससे समस्या सुलझ जाएगी ?"

"नहीं सुलझेगी।"

"उस रात अगर आपने वह भूल न की होती तो ?"

"तो आज यह दिन नहीं देखना पड़ता। यही न ?"

"आपको इसमें शक है ?"

"अब उसे याद दिलाने से फायदा ?"

"कोई नहीं है।"

"मैं पापी हूं, यही न आप फिर कहना चाहते हैं ?"

मैं चुप रहा।

"क्या मैं यही मानूं कि लोहू में एक कशिश होती है ?"

"लोहू की कशिश ! !"

"फिर कहिए। और इसे क्या कहा जाए ?"

"तब संस्कार से आप ऊपर नहीं उठे ?"

"आप भी कैसी पुराने ज़माने की सी बातें करते हैं ?"

"मैं पुराने ज़माने की सी बातें करता हूं ?"

"जी हां ! मैं और क्या कहूं। संस्कार से ऊपर कौन उठ सकता है ?"

मैं अवाक् रह गया।

"लेकिन जब दावानल फैलता है तब," मास्टर ने कहा, "हरा जंगल भी जल जाता है।"

मैं उसकी मुद्रा देखकर हिल गया।

"मैं भी जलूंगा शर्माजी।"

"और वह भी जल जाएगा।" मैंने कहा।

मास्टर ने कान पर हाथ रख लिए और कहा, "आप पत्थर हैं पत्थर ! मैंने देवता पर फूल चढ़ाया था, लेकिन भाग्य ने उसे भी पत्थर बना दिया।"

"आप ऐसा करिए।"

"क्या करूं मैं ?"

"सीकरी चले जाइए।"

"उसे कैसे ले चलूं ?"

"ले जाना ही होगा।"

इसी समय डाकिया आया। उसने कहा, "यहां कोई मास्टर किशोरी-

रमणजी हैं ?"

"हूं। मैं ही हूं।" मास्टर ने कहा, "क्यों ? इतनी जल्दी खत क्यों ?"

डाकिये ने इसका उत्तर नहीं दिया। कहा, "डाकबंगला गांव से बाहर है। पोस्ट मास्टर साहब ने तो कहा कि हम वहां डाक पहुंचाने के ज़िम्मेदार नहीं हैं। लेकिन मैंने कहा, हुज़ूर ! जरूरत होगी आपको।"

फिर याचना-भरी दृष्टि से देखा। मास्टर ने उसके हाथ पर दुअन्नी रख दी। जब वह चला गया तब मास्टर ने पत्र खोला।

पढ़ा और हताश-सा हाथों से मुंह ढंककर कुर्सी पर लुढ़क सा गया।

"मास्टर साहब !" मैंने आवाज़ दी।

जैसे उसने सुना नहीं।

मैंने फिर पुकारा, "क्या हुआ ?"

वह फिर भी नहीं बोला।

"क्या बात है ?" मैं चिल्लाया।

मास्टर ने मेरी ओर देखा। शून्य आंखें।

मैंने पत्र की ओर देखा। उसने हाथ पीछे हटा लिया, वैसे वह पत्र दिखाते हुए डरता था। मास्टर को पसीना आ गया।

"प्रोफेसर ! मैं लुट गया !" हठात् वह बुदबुदाया।

"क्यों ?"

"तुमने मुझे मार डाला। मैंने तुमसे उसी दिन कहा था कि मुझे पकड़वा दो, लेकिन तुमने कुछ नहीं किया।"

"आखिर बात क्या हुई ?" मैंने अचकचाकर पूछा।

"पढ़ा है, यह क्या लिखा है ?"

"मुझे क्या मालूम !"

"तुम्हें नहीं मालूम ? लेकिन इसमें वह है जो मेरे लिए जीते-जी मौत है। इसे देखते ही मेरे प्राण सूख जाते हैं।"

"मास्टर साहब," मैंने कहा, "क्या कह रहे हैं आप ?"

"आप पढ़ लीजिए।" उसने पत्र मेरी ओर फेंक दिया और बाहर भागा। मैंने उसे पकड़ लिया।

"कहां जाते हैं आप ?"

"क्या मेरे लिए कोई कुआं-पोखर नहीं रहा ?"

"कायर !" मैं चिल्लाया। मास्टर मेरे स्वर से डर गया। वह खाट पर बैठ गया। उस समय जैसे वह जीवित नहीं था।

मैंने पत्र उठाकर पढ़ा।

"सिद्धि श्री जोग लिखी शोभा की मास्टर किसोरीरमनजी को राम-राम वंचनाजी। अपरंच हाल यह है कि सारी दाल फैल गई। बहुत पकाई मगर नहीं पकी। मंगल का आज देहांत हो गया मंगलवार को। मरते वखत उसने एक गजब किया। लड़की वालों की तरफ का नाई आया हुआ था। मंगल ने उसे बुलाया और कहा कि 'खवास ! मैं नौकर तो इनका हूं, लेकिन मेरा बाप तुम्हारे बाबू साहब के ही नमक से पला था। सो वो नमक मैंने भी खाया है। इस नाते कहता हूं कि मैंने एक पाप किया था सो मरते वखत संग नहीं ले जा सकता, क्योंकि उसमें तुम्हारे बाबू साहब की लड़की का धरम बिगड़ जाएगा। छोटे बाबू यानी किसन परसाद जी बाबू राम-परसाद के असली बेटे नहीं हैं। बात यों है कि जब बाबू रामपरसाद अपने घर से यानी हमारी मालकिनी का इलाज स्याने से कराने कस्बा बैर गए थे, तब मैं नसे में उस वखत कुंवर साब को लेकर नौलक्खे के जंगल में चला गया था। वहां एक बघेर उस असली कुंवर को मेरे बगल से उठा ले गया। उस वखत मास्टर किसोरीरमन वहां मौजूद थे। उस मुसकिल के वखत मास्टर किसोरीरमन ने एक लोहपीटे का बच्चा वहीं पाया। लकड़ियां बटोरने कोई लोहपीटन आई थी। बच्चा सुलाकर लकड़ियां बीनती थी। उसपर बघेर ने हमला किया तो वह भागी। बघेर जमींदार बाबू साहब का बच्चा ले भागा। घबराहट में लोहपीटन अंधेरे में रस्ता भूल गई और रोती हुई अपने मरद के पास डेरे पड़ाव पहुंची। तब तक मैंने और मास्टर ने वह लोहपीटन का बच्चा गायब करके बाबू साहब के यहां कुंवर बना दिया। लोहपीटन अपने मरद के साथ जब फिर पहुंची, उसे अपने बच्चे के चिथड़े कपड़े मिले। वह समझी कि बघेर उसीके बच्चे को ले गया सो रोती-कलपती लौट गई। हमारी यह चोरी छिपी रह गई।' यह किस्सा बयान करके वह राम को प्यारा हुआ। हमारे मालिक का दिल इस किस्से-बयानी से कुछ फट-सा गया। लड़की वालों का नाई भी शादी तोड़कर लौटने लगा

कि हमें अपनी खानदानी इज़्ज़त नहीं लुटानी है कि एक लोहपीटे की औलाद को अपनी लड़की ब्याह दें। सीकरी में बात फैल गई है। बाबू साहब कहते हैं कि यह सब मंगल की नसेबाजी का नतीजा है। मास्टर कीसोरीरमन ऐसा नहीं कर सकते। सो आप कुंवर को लेकर जल्दी आएं और इस झूठ का भांडाफोड़ करें ताकि लुटी हुई इज़्ज़त फिर से कायम हो। बाबू साहब को पूरा भरोसा है कि यह झूठ है। उन्होंने नाई को रोक रखा है। नाई को भी भरोसा नहीं हुआ है इसलिए वह भी रुका है, कहता है कि भगवान करे ऐसा न हो। वर्ना जीमती माखी नहीं निगली जा सकती। मालिक ने पहले तो सोचा कि आपके पास आ जावें, पर रुक गए। क्योंकि तब सब यही कह लेते कि बाबू साहब ने कुछ लीपा-पोती कर दी है। जाहिरा कारिंदा साहब को भी नहीं कहा कि आपको पत्री भेजी है। मुझसे चुपचाप लिखवा दी है, आप इसे फाड़ना न भूलें। ऐसी जल्दी न दिखावें कि आप जानते हैं। अपने रास्ते कल-परसों तक आइए, ताकि दुश्मनों को कुछ कहने का मौका ही न मिले। फकत।"

"तो मंगल मर गया ?" मैंने कहा।

"अब मुझे भी यही करना होगा प्रोफेसर साहब !"

"क्यों ?"

"मंगल के विचार पुराने थे। मर गया और शान्ति पा गया। लेकिन उसमें विश्वास था। धर्म की जड़ें इतनी अधिक गहरी होती हैं ?"

"आप अब डरे हुए नहीं लगते।"

वह मुस्कराया।

"क्यों ?" मैंने पूछा।

"मैं अपने पाप से डर गया था शर्माजी। मंगल मर गया तो मर जाने दीजिए। मालिक को मुझपर पूरा भरोसा है। मैं कह दूंगा कि यह सब उस मंगल की नशेबाज़ी का नतीजा है। हो गया फैसला। मैं बेकार ही इतना घबरा गया था।" मास्टर ने चैन की सांस ली।

अब मास्टर चुप था। शान्ति उसके मुख पर लौट आई थी।

पत्र मैंने उसके हाथ पर रख दिया। वह उसे घूरने लगा। उसने कहा, "लिखा कागज़ बहुत बड़ा खतरा होता है शर्माजी ! होता है न ?"

मैं पलंग पर बैठ गया।

हवा का एक झोंका आया और फरफराहट से एक कापी खुल गई। एक कागज़ उड़ गया। मैंने झपटकर कागज को उठाया और कापी में रखने लगा कि निगाह अटक गई। कापी थी कृष्ण की। कोई कविता लिखी हुई थी। मैं उसे ज़ोर से पढ़ने लगा—

(खुले पन्ने पर लिखा था)

"किसलिए इतनी घृणा को सहेजे
बैठे हो,
किसका है गर्व जोकि तुम्हें
एक-दूसरे से अलग कर रहा,"

मास्टर सुन रहा था। बोला, "आप क्या पढ़ रहे हैं?"

"कृष्ण की कविता है।"

"क्या लिखा है?"

मैंने फिर पढ़ा और आगे पढ़ने लगा—

"मनुष्य की जाति क्यों है, जब
परमात्मा की नहीं है।"

मास्टर की आंखें मुंद-सी गईं।

मैंने कहा, "मास्टर साहब!"

"हां।" वह चौंका।

"क्या सोच रहे हैं?"

उस समय मेरे शब्द जैसे खो गए। तल्लीनता भी एक बड़ी आकर्षक वस्तु है। मैं सोचने लगा, ऐसी क्या बात हो गई? अभी तो यह इतना घब-राया हुआ था और अब इसको एकदम क्या हुआ! मास्टर जैसे स्वप्न-लोक में था।

मैंने पुकारा, "मास्टर साहब!"

वह चौंका।

कहा, "क्या है?"

"सुन नहीं रहे हैं?"

"सुन रहा हूं। और पढ़ो शर्माजी! और पढ़ो।"

मैं चकित रह गया। पूछा, "क्या पढ़ूं ?"

"और जो मेरे कृष्ण ने लिखा है। मैं नहीं डरूंगा शर्माजी।"

"क्या कह रहे हैं आप ?"

"मनुष्य डरता है। क्यों ?"

मैं नहीं समझा।

"मैंने पाप नहीं किया।" उसने कहा, "मैं क्यों डरूं ?"

"आपने पाप नहीं किया ?"

"आप कहेंगे मां से बच्चा छीना। यही न ? कहिए।"

"मैं कुछ नहीं कहता।"

"वह मेरे जीवन की साधना है शर्माजी ! भूल थी। आप भी तो किसी कारण चुप पड़ गए थे। फिर मैं पड़ गया तो क्या हुआ ? आज सबसे बड़ी चोट हुई है कि हम इन्सानियत की जड़ काट रहे हैं। हम जाति को मान रहे हैं।"

"लेकिन," मैंने कहा, "कहां है इसका अन्त ! गांधी जैसे महान व्यक्ति भी चले गए, किन्तु भारत का यह भयानक दानव किसीसे भी पराजित नहीं हुआ।"

"उसे होना पड़ेगा।"

"कैसे ?"

"क्या इसका हल ही नहीं ?"

"हो तो आप बताइए।"

"मुझे दो यह कापी।"

"क्यों ?"

"मैं सुनूंगा। वह जो मैंने उसे पढ़ाया है, वह मैं सुनूंगा। शर्माजी ! क्या मुझमें ऐसे अच्छे विचार थे ? क्या मैंने कभी इतने अच्छे वाक्य कहे हैं जो कृष्ण को याद रह गए हैं ? क्या मैं किसी भी क्षण अच्छा आदमी भी रह चुका हूं ?"

उसका आवेश बड़ा मार्मिक था।

"मनुष्य मूलतः अच्छा होता है, क्योंकि जीवित रहने का समझौता करना ही पड़ता है।" वह कहता रहा, "मैं यन्त्र था, वह मनुष्य है. मैं

बोलता था, वह ग्रहण करता था। प्रोफेसर साहब ! मैंने इस मजबूरी में भी जीवन को जिया है। कैसा निर्भीक बनाया है यह लड़का ! ऐसा नाम करेगा यह कि आप देखते रहें। आज मैं अपराधी भले ही रहूं, परन्तु कल मैं इसके साथ अमर होऊंगा।"

मैंने कहा, आप जाग तो रहे हैं ?"

मास्टर ने पढ़ा, सस्वर :

(कापी में से)

"मुट्ठी-भर धूल का मोल
कौन देगा ?
इसमें हज़ारों सालों की वासनाएं बन्द हैं,
इसमें वे भी हैं जिन्हें परमात्मा ने प्यार किया है
इसमें वे भी हैं जिन्हें मनुष्य ने घृणा किया है,
इस धूलि को गंगा में डाल दूं, ताकि यह
समुद्र तक चली जाए,
पृथ्वी के गर्भों तक
मनुष्यों का अपराजित सत्य
गूंज उठे।"

मास्टर का स्वर रुंध गया। उसने फिर पढ़ा :

"यह सत्य तुम्हारी एक शताब्दी नहीं तोल सकेगी,
अब तक के विकास को देखो तब ही
तुम्हारी समझ में आएगा,
सत्य इतना छोटा नहीं
जितना तुम समझते हो।"

"छोड़ो मास्टर साहब।" मैंने कहा, "पागल न बनो। आखिर फायदा क्या ? ज़मींदार साहब तुम्हारे कल्पना-लोक के नहीं हैं।"

मास्टर फिर होश में आया।

मैंने कहा, "मुमकिन है कृष्ण अमर न हो सके। तो ?"

मास्टर का सिर चिन्ता से झुक गया।

मैंने कहा, "आप भावावेश को छोड़िए।"

"मैं भूल गया था अपने को।" मास्टर ने स्वीकार किया।

"आप बाल-बच्चेवाले आदमी होकर भूल जाते हैं?"

मास्टर अपराधी-सा देखने लगा।

मैंने कहा, "ये कापियां समेटिए। पहले मैं भी कवि था। अब मैं ब्रुक बाण्ड कम्पनी का नौकर हूं। समझे आप? उठिए। अपने जिस्म की कल्पना नामक धूलि झाड़िए और देखिए, अब मंगल नहीं रहा। जाने की तैयारी कीजिए।"

"मैं कब मना कर रहा हूं!"

"फिर आपको यह चिंता क्यों है?"

"लेकिन मैं इस पाप का क्या करूं?"

"पाप! वह कैसा?"

"तो आप देख नहीं रहे हैं! ये भाई-बहिन हैं।"

"लड़कपन है। छूट जाएगा। आप चले जाएं अब।"

"चला जाऊंगा। पर कवि-हृदय होकर भी आप नहीं समझते। यदि उसमें आकर्षण जन्मा है, तो क्या वह कसक छोड़े बिना उसमें से निकल जाएगा? मुझे तो विश्वास नहीं होता। अब क्या वह इतना बच्चा है?"

"अभी तो बच्चा ही है। और अभी तो कुछ बात भी नहीं बढ़ी। कोई नहीं जानता।"

"प्रोफेसर साहब!" मास्टर ने कहा, "सच बता दूं अपने मन की बात? एक बार तो मेरे मन में दूसरा भाव था कि यह पत्र छिपाकर भी क्या होगा! जमींदार साहब तो जान गए हैं। वे अब इस लड़के से घृणा करेंगे। मैं नहीं सह सकता इसे शर्माजी! इसके मासूम दिल को मैं चोट नहीं पहुंचा सकता। मेरी नौकरी चली गई—गई ही समझो, लेकिन जैसे मेरे बच्चे हैं, वैसा यह मेरा बच्चा है। पहले इसे खिला लूंगा तब खाऊंगा। मेरा कृष्ण अगर जमींदार साहब का बच्चा नहीं तो वह मेरा बच्चा है। आज नौलक्खे में रोती लोहपीटन सुने कि मैंने उसका बच्चा चुराया जरूर था, लेकिन वह मेरे लिए भगवान का बच्चा है। मैं उसे नहीं छोड़ सकता। मगर बात बिगड़ी नहीं है शर्माजी। राज छिपा रह जाएगा। कोई भी नहीं जान पाएगा कि कृष्ण एक लोहपीटे का बच्चा है..."

हठात् द्वार पर मेरी दृष्टि पड़ी।

मैं चीख उठा, "चुप रहो मास्टर साहब !"

"चुप मत रहिए मास्टर साहब।" कृष्ण ने भीतर घुसते हुए कहा, "चुप मत रहिए। मुझे और भी बताइए। मुझे सुनना है न ? तो मैं वह नहीं हूं जो मैं समझता था !"

मास्टर ने मुड़कर देखा।

कहा, "कृष्ण !"

कृष्ण ने कहा, "आप रुक क्यों गए ?"

मास्टर के मुख पर भय छा गया।

"एक बात बताइए गुरुदेव, आपने मुझे मेरी मां की छाती से छीनकर क्यों दूर कर दिया ?"

"मैंने···" उसकी जीभ लड़खड़ा गई।

"आपने ही तो।"

"कृष्ण···मेरे बच्चे···"

"मैं गद्दों पर न पलता, पर मां के आंचल की छाया में तो पल लेता।"

मास्टर के नयनों में आंसू भर आए। वह उत्तर नहीं दे सका, उसके होंठ बार-बार फड़कते थे, पर वह कुछ जैसे बोल नहीं पाता था।

"गुरुदेव !" कृष्ण ने कहा, "ममता का सत्य कितना कठोर होता है ?"

"बेटा," मास्टर ने कांपते स्वर से कहा, "तू मनुष्य नहीं है, तू अब हम जैसा नहीं रहा है।"

"मैं कौन हूं अब ?"

"तू मनुष्य ही है न ?"

"मैं कौन हूं, मुझे क्या पता ? मैं किस किताब से फाड़ा गया पन्ना हूं ?"

"यह तो वही बताएगा, जो तुझपर लिखा हुआ है।"

"मुझपर कुछ भी नहीं लिखा गुरुदेव ! दोनों ओर कोरा हूं मैं।"

"तब तू पवित्रतम है।"

मैंने कहा, "कृष्ण !"

"नहीं," कृष्ण ने कहा, "वह तो मर चुका। मैं ज़मींदार का बेटा नहीं, मैं एक लोहपीटे का बेटा हूं।"

मास्टर ने आंखें उठाईं।

"एक बात कहूं, मास्टर साहब !" कृष्ण ने कहा।

"कहो।"

"आप अपराधी हैं।"

मास्टर ने कुछ नहीं कहा।

"मैं अगर वही होता तो मुझे कुछ दुःख नहीं होता।"

मैं सुनता रहा।

कृष्ण ने मेरी ओर देखा। मैं स्थिर दृष्टि से देख रहा था।

"मास्टर साहब ! क्या आप अब भी मुझसे कुंवर साहब कहा करेंगे ?" कृष्ण ने बहुत धीरे से कहा।

मास्टर ने पल-भर नीचे देखा। फिर आंखें उठाईं। उनमें आंसू भरे हुए थे। मैंने देखा कि वे डबडब-डबडब कर रहे थे।

"नहीं कहूंगा कभी। वह तो मेरे-तुम्हारे बीच एक रुकावट थी। कितने दिन से तुम्हें पुकारना चाहता था—'बेटा !' " मास्टर ने कहा, "आज वह दिन आ गया है मेरे कृष्ण ! आज वह दिन आ गया है। आज तक तू मुझसे दूर था, पर अब वह दूरी हट गई है।" मास्टर के आंसू गालों पर बह आए।

"गुरुदेव !" कृष्ण के होंठों से फूट निकला।

मास्टर ने कृष्ण को भुजाओं में भरकर आंखें मूंदकर उसका माथा चूम लिया।

"कृष्ण !"

"गुरुदेव !"

"तू मेरा बच्चा है न ?"

"मैं तो धूल का अभिशाप हूं।"

"तू मेरे स्वप्नों का उद्धार है बेटा !"

आवेश की मात्रा जब घटी तब कृष्ण गुमसुम-सा बैठ गया।

मास्टर ऐसा बैठ गया जैसे वह दांव हार चुका था, लेकिन उसने उससे भी बड़ा दांव लगा दिया था और अब इन्तज़ार कर रहा था।

मैंने कहा, "कृष्ण !"

कृष्ण ने आंखें उठाईं।

"क्या सोच रहे हो ?"

"सोचता हूं कि जब मैं फतहपुर सीकरी लौटूंगा और लोगों को पता चल ही गया है, नौकर भी जानते हैं, तब क्या होगा ?"

"कुछ नहीं," मैंने कहा, "यह बात तो बड़ी ही मामूली-सी है।"

"मामूली है ?"

"और क्या ? मास्टर साहब कह देंगे कि यह झूठ है।"

"फिर सब ठीक हो जाएगा ?" कृष्ण ने पूछा। मैंने उसके स्वर में कठोर व्यंग्य की झलक देखी। तब कृष्ण हंसा। उस हास्य में कितना भयानक विद्रूप था !

"गुरुदेव मेरे लिए झूठ कहें ? मैं झूठ बोलकर धन और सम्मान के लिए एक वृद्ध को धोखा दूं ? फिर उनके विश्वास को छलकर एक शादी करूं और जब वे इसे अधर्म समझते हैं तो उन्हें भी धोखा दूं ?"

मैंने कहा, "तुम आवेश में हो। मैं तुम्हें समझा दूंगा।"

धीरे-धीरे रात हो गई। मास्टर ने सारी कथा सुनाई। वह चुपचाप सुनता रहा।

रेवत खाना ले आया।

"आओ !" मैंने कहा।

दोनों चुप रहे, पर दुबारा बुलाने पर खाने आ गए।

कृष्ण ने रोटी का कौर तोड़ते हुए कहा, "इस समय लोहपीटे भी रोटी खा रहे होंगे !"

"सभी इसी तरह खाया करते हैं," मैंने कहा, "इसमें बड़ी बात क्या है ?"

"मैं भी तो उन्हींमें से हूं।"

"भूल जाओ इस बात को कृष्ण !" मैंने कहा, "कुछ व्यवहार-बुद्धि से

भी काम लेना सीखो। एक सत्य के पीछे कितनों का दिल तोड़ोगे ?"

मैंने सोचा। लेकिन इसका मेरे पास क्या उत्तर था कि अब वास्तव में कृष्ण का दर्जा गिर चुका था समाज में, उसके जमींदारी घर में—यदि वह सत्य का मार्ग पकड़े रहेगा।

"प्रोफेसर साहब ! मुझे सत्य छोड़ देना चाहिए ?"

मैं अवाक् रह गया।

"अच्छी बात है।" उसने कहा, "मैं इस बारे में सोच लूं।"

मास्टर की अवस्था अब दयनीय नहीं थी। जाने क्यों वह दृढ़ था। हस्बमामूल हमने खाना खाया। फिर हम लोग सो गए। अचानक मेरी आंख खुल गई। कहीं पेड़ पर उल्लू बोल रहा था।

मैंने अंधेरे में आवाज सुनी, फिर देखा, लैम्प अब भी हलकी रोशनी कमरे में फैला रहा था।

मैं चौंका। कृष्ण बिस्तर पर नहीं था।

सन्न पड़ गया मेरा शरीर। चला गया !

कहां चला गया !

क्या वह छोड़ गया सबको !

लेकिन क्यों ?

मास्टर सो रहा था।

नींद भी कैसी अच्छी चीज है कि वह मुक्त था उस वेदना से ! क्या वह उसे कह सकता था—उसका कृष्ण चला गया था। अगर इस समय मास्टर जागता होता तो क्या वह मेरी तरह शांत रहता ! पागल हो गया होता वह।

लेकिन मैंने सोचा।

आखिर कृष्ण इस समय गया कहां होगा ?

अभी आ जाएगा।

यह सोचकर कुछ देर प्रतीक्षा की।

पर वह नहीं था, न आया।

मास्टर अब भी शांति से सो रहा था। कितनी प्यारी होती है यह नींद ! युगांत में क्या इसीलिए भगवान के सोने की कल्पना की गई है ?

मैं उठा धीरे से। शाल कन्धे पर डाल लिया।

कहां जाऊं ?

क्या करूं ?

मास्टर को जगाऊं ?

नहीं, मुझे दया आ गई। उसे क्यों तंग करूं ?

बरामदे में आ गया।

बड़ी घुटन-सी थी मन में। इतनी सर्दी थी बाहर। हवा चल रही थी। काला आकाश, अंधेरी धरती। और स्याह पेड़, पात। वही नौलक्खा। एक मांस का लौंदा जो उस दिन उस जंगल में से मास्टर ने निरीह समझकर उठाया था, आज वह उसके जीवन का सबसे बड़ा प्रश्न बन गया था, क्योंकि वह एक मनुष्य और मनुष्य का काव्य भी बन गया था।

बाहर निकल आया मैं।

'कहां जा रहा हूं मैं ?' यह मैंने अपने-आपसे पूछा। उस दिन भी तो अंधेरा था और तब भी आकाश बिलकुल स्याही-सा था। उस दिन देनेवाले ने यह बच्चा मास्टर को दिया था और अब वापस ले लिया !

सामने लोहपीटों ने आगें जला रखी थीं। जगह-जगह लपटें झाड़ियों-सी दिखाई देती थीं, चमकती, हिलती हुई। उनसे उगला जाता धुआं उनके प्रकाश में अब दिखाई नहीं देता था, क्योंकि काले को काला निगल जाता है !

एकाएक कोई हंसा। स्वर कुछ पहचाना-सा था।

कौन हंसा ?

मैं कौतूहल से बढ़ा।

यह हास्य मैंने कब सुना है ? कौन है जो ऐसे हंसता है ?

सामने पेड़ आ गए थे। यह मेरे लिए अच्छी आड़ थी।

देखा मैंने।

मोती !

आग जल रही थी···उजाला हो रहा था···

लाली बैठी थी···

उसके नयनों में अथाह जिज्ञासा थी। मैंने देखा···और···

और···कैसे कहूं···

सामने बैठा था कृष्ण।

शायद चम्पा गाड़ी की छाया में सो रही थी, मैली-सी खोर-सी ओढ़-कर।

कृष्ण यहां कर क्या रहा था ! क्यों आया था वह यहां ? वह तो नहीं जानता कि इसी व्यक्ति का नाम मोती है !

मैं पेड़ की आड़ में खड़ा सोचता रहा, 'जाऊं या नहीं। यदि गया तो शायद वे अपनी बातें रोक दें।'

चुपचाप उनकी बातें सुनता रहा।

मोती ने हंसना रोककर खांसकर कहा, "क्या कहते हो हुज़ूर ? तुम भी हममें से हो ?'

वह फिर हंसा।

कृष्ण ने कहा, "तुम नहीं मानते ?"

"मैं कैसे मान लूं ?" मोती ने कहा, "हुज़ूर ! यह कैसे हो सकता है ?"

"आकाश के नीचे, धरती के ऊपर क्या नहीं हो सकता ?" कृष्ण ने कहा।

लाली ने कहा, "पर बात समझ नहीं पड़ती।"

"लेकिन यह सच है।" कृष्ण ने ज़ोर देकर कहा।

मोती ने अविश्वास से सिर हिलाकर कहा, "तुम लोहपीटा ही न कहते हो हमें ?"

"मैं नहीं कहता," कृष्ण ने कहा, "लोग कहते हैं।"

"तुम्हें कौन बताता है ?" लाली ने पूछा।

"आज से सत्रह साल पहले," कृष्ण ने कहा, "इसी बैर में, इसी नौलक्खे में एक लोहपीटों का दल ठहरा था। उस समय एक औरत अपने बच्चे को लेकर जंगल में लकड़ियां बटोरने गई थी। वहां वह बच्चे को रखकर लकड़ी बीन रही थी कि बघेर ने उसका पीछा किया। वह भागी। बच्चा छूट गया। वह गाड़ी के पास आई। अपने आदमी से कहा। जब तक उसे लेकर वापस गई, बच्चा गायब हो चुका था। उस बच्चे को एक जमींदार के उस बच्चे की जगह रख दिया गया था जिसे सचमुच बघेर ले गया था।

वह बच्चा जो लोहपीटा था, मैं ही हूं।"

लाली एक चीख मारकर बेहोश हो गई।

कृष्ण का मुख लपटों के उजाले में आरक्त दीखता था।

लेकिन मोती ने जैसे उसपर ध्यान नहीं दिया। वह अब भी अपनी स्त्री के मूर्छित हो जाने से विचलित नहीं हुआ था।

सन्नाटा तोड़कर उसने कहा, "बाबू ! जिसने तुम्हें यह कहानी सुनाई, उसने उस आदमी का नाम भी बताया था ?"

"उसका नाम था मोती !"

"मोती !"

"हां, मोती !"

"मोती ! ! !"

"हां, मोती ! ! !"

"तुम···तुम···मेरे बेटे हो···"

उसने उंगली उठाकर कहा।

उस समय कृष्ण हठात् बिजली का सा झटका खाकर पीछे हट गया।

ऐसा पिता !

उसका ! उसका ऐसा पिता ! !

ज़मींदार साहब का भव्य रूप उसके नयनों के आगे नाच गया। और आज उसे इस गंदे गंवार-से लगते आदमी को अपना पिता मानना होगा।

"नहीं, नहीं" वह सिर पकड़कर बैठ गया।

यह क्या था ! आदर्श और यथार्थ में कितना भेद था ! यह वह कैसे स्वीकार कर सकता ! वह विफरी आंखों से आग को देखता रहा। देखता रहा ! जैसे वह अकाश से धरती पर गिर पड़ा था। कितना आसान था यह कहना कि मनुष्य मनुष्य समान हैं, पर व्यवहार में यह कितना कठिन था ! मैं नहीं कह सकता उसके मन में क्या घूम रहा था ! क्या था जो उसे ऐसा व्याकुल किए दे रहा था ! मोती अब भी अविचलित-सा बैठा था। वही मोती जो मेरे साधुरूप के सामने चरणों पर विह्वल होकर बैठ गया था।

मैं चुप नहीं रह सका।

मैंने आगे बढ़कर कहा, "कृष्ण !"

वह नहीं बोला। मेरे पैरों से लिपटकर फफक-फफककर रोने लगा।

"रोता क्यों है कृष्ण ?" मैंने रुंधे हुए कण्ठ से कहा।

मोती पत्थर-सा बैठा था। उसने अब कहा, "जोगी ने कहा था उस दिन, तेरा बेटा मरा नहीं है। वह अभी तक जी रहा है।"

लाली होश में आकर हाथ खोलकर पुकार उठी, "मेरा बेटा! आ गया मेरा बेटा, इतने सालों बाद आ गया..."

चंपा जाग गई। वह उठ आई।

बोली, "क्या हुआ अम्मा ?"

कौतूहल से देख रही थी वह।

लाली ने बेटी को देखा तो पुकार उठी, "तू कैसे चुपचाप खड़ी है बज-मारी! देख तो! अरी तेरा भैया आया है..."

चंपा का शरीर कांप उठा।

यह क्या सुना उसने! वह एकदम हाथ फैलाकर आगे बढ़ी और पुकार उठी, "भैया!!"

पीछे नहीं हटा कृष्ण। बहिन ने भाई को भेंट लिया। चंपा कृष्ण को घृणित क्यों नहीं लगी ?

लाली ने बढ़कर कहा, "बेटा! तू मेरा ही बेटा है न ?"

"हां अम्मा! दुनिया में कोई न माने। क्या तू भी मुझे अपना नहीं कहेगी ?"

"मेरा राजा बेटा! सत्रह बरस बीत गए, कोख में हूक उठती थी एक कि मेरा लाल चला गया। आज मेरा सपना पूरा हुआ।"

मां ने बेटे को अपनी छाती से लगा लिया। कैसा अपूर्व और मधुर मिलन था वह!

"मां।"

"बेटा!"

"मां! तूने उस दिन मुझे अपनी गोदी से क्यों उतार दिया था ?"

"एक भूल हो गई बेटा, कितनी-कितनी न तरस गई मैं!"

अश्रुसिक्त हो गए नयन।

"अब तो नहीं उतारेगी मुझे ?"

नहीं बेटा।

"मां ! मेरे जनम-जनम के तीरथ हो गए।"

"मेरी साधें पूरी हो गईं परमात्मा। पर इसे छीन न लीजो कहीं ओ निठुर दई !"

मां फिर हिचकी लेकर रो उठी। और कहा, "एक दिन सबको ही सुख मिलता है। आज मुझे खज़ाना मिल गया है।"

मैंने देखा, मोती अब भी अखंड गांभीर्य धारण किए बैठा था।

उसपर जैसे इस आवेश का कोई भी प्रभाव नहीं था। उसने फिर बड़-बड़ाकर कहा, "जोगी ने इसीलिए कहा था कि आगे मत पूछ। मैंने हुकम माना। नहीं पूछा। मुझे सूल नहीं लगा था। दिल में। पर तू पूछ बैठी। अब। समझी ! लाली ! सुनती है ?"

लाली ने आशंका-भरे नयनों से मुड़कर उसकी ओर देखा और संदिग्ध स्वर में पूछा, "क्या है ?"

पुरुष की दाढ़ी हिल गई। उसने कठोर स्वर से, अपनी स्त्री की ओर देखते हुए कहा, "छोड़ दे बाबू को।" लाली चौंकी।

"कौन बाबू ?"

"छोड़ दे इसे।"

"बाबू नहीं है, मेरा बेटा है।"

मोती हंसा। उसका हास्य कठोर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। लाली उसकी हंसी से चिढ़ गई।

"हंसते क्यों हो ?" लाली ने प्रतिवाद किया।

मोती ने अपने भारी स्वर से कहा, "ठीक है, जो भी कुछ हो, हमें मतलब नहीं है। अरे बेटा है तो, और नहीं है तो, अब हमें क्या !"

कृष्ण चौंक उठा।

"क्यों ?" पूछा उसने।

"वह हमारे अहद को नहीं पाल सकता।"

"भूल गई मैं।" स्त्री ने उसका हाथ छूकर कहा, "सचमुच ! इसके हाथ घन पर तो लोहा नहीं चला सकते।"

कृष्ण ने कहा, "मां !"

चंपा पीछे हट गई। वह डरी हुई थी।

कृष्ण ने मुझसे कहा, "प्रोफेसर साहब ! कल से मैं इनके साथ रहूंगा, आप मास्साब से कह दें। सीकरी लिखा दें।"

लाली को जैसे किसीने विष सुंघा दिया था।

सहसा एक हिलोर-सी दौड़ गई।

"क्या है तुम्हारा अहद ?" कृष्ण ने पूछा।

"हम घर में नहीं रहते, हम ज़मीन नहीं जोतते, हम टिककर कहीं नहीं रह सकते। गाड़ी हमारा घर है, गाड़ी हमारा संसार है। हम लोहे में साल (छेद) नहीं करते। हम रस्सी से कुएं में से पानी नहीं निकालते।"

"क्या मैं ऐसा नहीं कर सकता ?"

"तू कर लेगा बेटा !" लाली ने पुकारा।

"कर लूंगा, मां !"

"पागल मत बनो कृष्ण !" मैंने उसका कंधा झकझोरकर कहा।

"इसमें क्या पागलपन है ?"

"तुम अब लोह पीटकर जीवन बिता सकते हो ?"

"मैं ?" वह हिचकिचा गया।

"तुम यह नहीं कर सकते अब।"

उस समय मेरे सामने जाति का विशाल पिशाच उठ खड़ा हुआ।

वही पिशाच, जिसके लोहू-भीगे दांतों से भारत की महानता चढ़ाई हुई पड़ी थी। कहां से प्रारम्भ हुआ था जाति का ? और वह भी कैसे कि जो चाहे आए वही इसके जादू के नीचे थमा-सा रह जाए।

"सोच रहे हो ?" मैंने पुकारा।

वह चुप रहा।

"यह नितान्त अस्वाभाविक है।" मैंने फिर कहा।

उसने मुझे देखा और कहा, "लेकिन यहां घृणा नहीं।"

"कोई नहीं कहेगा कुछ।" मैंने आश्वासन दिया।

"सभ्यता !" कृष्ण ने कहा, "मुझे किस सभ्यता में ले जाना चाहते हैं आप शर्माजी ? मैं तो इन्हींमें से हूं।"

"और ज़मींदार साहब !"

"वे क्या अब मुझे अपने यहां जगह देंगे ?"

"देंगे।" पर मेरा स्वर कांप उठा।

"आप बोलते क्यों नहीं ?"

मैं उत्तर नहीं दे सका। कहा, "यह अखंड गरीबी है कृष्ण।"

"गन्दगी भी है।" उसने उत्तर दिया।

"फिर भी तुम नहीं डरते ?"

"पर डरने से तो लाभ नहीं है।"

बाहर तेज़ हवा चलने लगी थी और सर्दी पहले से भी तीखी और अधिक मालूम पड़ती थी।

मैंने कहा, "इस सर्दी में यों ही खुले में रहना होगा।"

"मैं जानता हूं।"

म्हावट के दूत आकाश में घुमड़ने लगे थे।

मैंने ऊपर देखा और कहा, "कृष्ण !"

"जी।"

कहीं से झम्माका हुआ, फिर बिजली कौंध गई।

"बिजली कौंध रही है।" मैंने कहा।

"मेरे ऊपर ही क्यों नहीं गिर जाती ?" कृष्ण ने अपनी पीड़ा को स्पष्ट करते हुए कहा।

"मेरे साथ चलो कृष्ण।" मैंने बढ़कर कहा।

"कहां ?"

"डाकबंगले में।"

"क्यों ?"

"शांति से विचार करो। पहले सोचो तो कि तुम क्या कर रहे हो।"

"क्या कर रहा हूं ?"

"तुम इस कठिन ज़िन्दगी को अपना सकते हो ?" मैंने कहा, "अच्छी तरह सोचकर देख लो। सुनो, मैं भी साधु बन चुका हूं। मैंने भी बड़े उतार-चढ़ाव देखे हैं।"

"कब ?"

"जब तुम सात-आठ साल के ही थे तब मैंने घर छोड़ा था।"

"आपने ?"

"जीवन के अनेक मोड़ आते हैं कृष्ण ! मेरा कहना मानो।"

"अब मुझे लौटाना क्यों चाहते हैं ?"

"क्योंकि तुम्हें भगवान जब एक ओर ले गया है, तब उसका कोई मतलब ज़रूर है। वह अकारण ही तो कोई काम नहीं करता।" मैंने हारकर दलील दी।

"जाओ बाबू भैया, जाओ !" मोती का स्वर सुनाई दिया। उसको यह बात समझ में आ गई थी।

लाली देखती ही रही। चंपा मौन थी।

मोती ने कहा, "बाबू ठीक कहते हैं। तुम हमसे दूर हो गए हो। अब तुम दूर रहो, हमसे अलग हो। हम गरीब हैं। भगवान ने तुम्हें हमसे छीन लिया। क्यों ?" उसने अपने-आप सोचकर कहा, "चंपा की अम्मा ! ऐसा क्यों हुआ ?"

लाली नहीं समझी।

बोली, "मेरा बेटा मेरे पास नहीं रहेगा ?"

"वह अब तेरा नहीं।" मोती ने कहा, "उसके कपड़े देख। उसका रूप देख !" फिर उसने कृष्ण से कहा, "अच्छा, सवेरे सोच-विचारकर आ जाना भैया, कोई जल्दी नहीं है। यह जल्दी का काम नहीं है।"

मैंने कहा, "यह ठीक है कृष्ण। आखिर मास्टर साहब से तो तुम्हें कहकर ही आना चाहिए।"

लाली का मुख जैसे अपमान से क्षुब्ध हो गया था।

मैंने फिर कहा, "जब मास्टर ने तुम्हें उठाया था तब उसे क्या पता था कि तुम कौन थे ! उसने तो जंगल में पड़े बच्चे को उठाया था। उसने तो तुम्हें भगवान का बच्चा समझा था केवल।"

मैं कृष्ण का हाथ पकड़कर ले आया। कमरे में घुसे तो मास्टर जगा।

"कृष्ण !" मास्टर ने लालटेन के प्रकाश में से उसे पहले देखा, "तुम कहां थे ?"

कृष्ण खाट पर बैठ गया।

"क्या हुआ ?"

"कुछ नहीं," मैंने बात टाली।

"यह बला की सर्दी और तुम बाहर गए थे ?" मास्टर ने कहा।

"आपको कैसे पता चला ?" मैंने पूछा।

"मैं वही देख रहा था। कृष्ण लौट आया है अब मुझे डर नहीं।"

"तो आप सोए नहीं थे ?"

"नहीं। जब कृष्ण गया था तब भी मैं जाग रहा था।"

"फिर आपने रोका नहीं ?"

मास्टर ने कहा, "मैंने इसे मनुष्य बनाया है शर्माजी ! इसकी एक इच्छा है। मैं इसका दमन नहीं करना चाहता। आप कहेंगे, यह चला गया था तो आपका क्या हाल था। मास्टर को काटो तो खून नहीं। ऐसा हाल था। क्योंकि बाबू साहब को अभी जवाब देना है। फिर भी किस कीमत पर ? इसकी खुशी पहले। मेरी ज़िन्दगी बाद में।"

कृष्ण ने कुछ नहीं कहा।

मैंने कहा, "सुना कृष्ण ?"

वह नहीं बोला।

हम सोने लगे। फिर उसने कहा, "मास्टर साहब !"

"बेटा !"

"बेटा !" वह हंसा, "मैं किसका बेटा हूं ?"

"भगवान का।"

"आप किसके बेटे हैं ?"

"मनुष्य के।"

"क्यों ?"

"क्योंकि तुम पवित्र हो, मैं जंजाल में फंसा हूं।"

कृष्ण ने कम्बल से सिर भी ढक लिया। कमरे में नीरवता छा गई। मैंने देखा तो मैंने भी सौड़ ओढ़ ली ऊपर तक।

मुझे डर हुआ कि कहीं यह भाग न जाए फिर। देर तक सोचता रहा। क्या करूं ? द्वार भीतर से बन्द था। लैम्प का हलका प्रकाश फैल रहा था। सोचते-सोचते मैं थक गया, पर लहरें बराबर थपेड़े मारती रहीं। विचार

आते, बिखर जाते और लौट जाते।

आधी रात बीत चुकी थी। मुझे प्यास लगी। उठा। पानी पिया। फिर सिगरेट सुलगाई और रज़ाई में बैठकर कश खींचे। तब मैं फिर कुछ ठीक हुआ। नशा जिसके लग जाता है, वही उसकी वासना से हारना सीख जाता है। उसीको उसमें सुख मिलता है। जो उस घेरे के भीतर नहीं रहता, वह सदैव उसे घृणा की दृष्टि से देखता है।

वे दोनों सो गए थे।

मुझे सन्देह था। सोए भी हैं या नहीं; कहीं दोनों ही चुपचाप पड़े हों। मास्टर की हालत पर मुझे दया आई। बोल सकता नहीं, पर जानता उसे सब कुछ है। और कृष्ण! वह क्या कम विचलित होगा! अपने असली पिता को देखकर उसका क्या हाल हो गया था!

मुझे लगा कि गाड़ियां चल रही थीं।

गाड़ियां कहां जा रही हैं? अब दोनों को मैंने शांत-स्थिर देखा। मैं उठा और अब की बार मैंने बहुत धीरे से द्वार खोला।

मैं अचक बाहर निकला।

पानी बरस रहा था इस समय। घटाओं के नीचे जैसे छेद हो गए थे। सर्दी बढ़ती जा रही थी। मैं इस डर से अधिक बाहर नहीं गया, क्योंकि हवा बरामदे में भी आ रही थी।

मैंने देखा।

मोती कह रहा था, "हांके चलो गाड़ियां। हांके चलो! हमें जल्दी दूर हो जाना चाहिए।"

लाली का स्वर फूटा, "अरे मेरा बेटा···"

"पागल हुई है?" मोती ने उत्तर दिया "कैसा बेटा?"

"मैंने उसे ढोया···"

"मान ले वह नहीं रहा···।"

"अरे बज्जर···"

"अहद भूल गई?"

"उससे पूछ तो ले···"

"पूछ लिया। अरी वह तो छोड़ गया अभी···"

स्त्री का स्वर घुट गया।

फिर पहियों की आवाज़ आती रही···

चर्र चूं···चर्र चूं···चर्र चूं···

हट, हट···

गाड़ियां चली गईं।

मुझे पता नहीं क्या हो गया कि जब मैंने फिर अपने को देखा मुझे आश्चर्य हुआ। मैं न जाने कब बरामदे के बाहरी हिस्से में आ गया था और वहां बूंदें गिर रही थीं। मैं भीग गया था।

अब मुझे एकदम सर्दी-सी लगने लगी। गाड़ियां चली गईं। मुझे लगा कि झंझट कट गया। कल-परसों तक लड़का भूल जाएगा।

कमरे में आकर कपड़े बदल, बिस्तर में घुसा। गर्माई आई तो सोचने लगा, 'ये लोग स्वयं चले गए। अच्छा हुआ। चलो बला टली। वर्ना यह लड़का बड़ा छुई-मुई है। परेशानी बढ़ती। चलो अब मास्टर भी बच जाएगा। अब क्या हो सकता है ऐसा कि लड़का गाड़ियों में घूमे? गंवार बने? वैसे ही रहे जैसे वे रहते हैं?"

मैंने योजना बना ली। ज़मींदार साहब की ज़मींदारी गई। बेच दें सब जमीन-जायदाद। आगरे में बना लें कोठी। बस जाएं। कुछ सालों में लड़का तैयार हो जाएगा कमाने लायक। रुपया तो है ही। उन्हें क्या फिक्र है?

फिर मास्टर भी चैन से रहेगा। लड़की को पढ़ाने के लिए रखा गया था। लड़की की शादी हो गई तो निकाला नहीं गया। रईसों के यहां से नौकर निकाले नहीं जाते। यह भी सोचा जाता है कि अरे क्या खाएगा। रहने दो, कुछ दिन में लड़का बड़ा हुआ जाता है। सो हो गया और मास्टर भी फिर काम आने लगा।

लेकिन यदि ज़मींदार साहब ने लड़का छोड़ दिया तो?

अब मेरे विचारों का रुख ही बदल गया। मैं हर विचार को असंभव मानना चाहता था। सो यों पूछता, अपने-आपसे ही।

वे कैसे छोड़ सकते हैं?

इतने दिन की ममता कैसे छोड़ देंगे ?

नौकरों का क्या है ? क्या मास्टर की बात नहीं चलेगी ?

कृष्ण का क्या है ? जब सुख-विलास में पहुंचेगा, क्या फिर भूल न जाएगा ?

मास्टर का क्या होगा भला ? वह तो नहीं कहता कि लड़का लोह्-पीटा है।

कैसी ऊटपटांग बात है ! वह किताबी चीज़ और है कि पुश्किन जाकर कंजरों के साथ रहता था। लेकिन यह रहना और बात है। यह विचार तो मुझे बिलकुल ही अजीब लगा।

इन्हीं विचारों में मुझे नींद आ गई। रजाई की गर्मी का मजा आने लगा। हवा न घुसने दी मैंने कहीं से भी।

शायद तीन और चार के बीच का समय होगा। आंख खुली। कृष्ण सोया था। मैं फिर आराम से सो गया।

सुबह देर से आंख खुली। मैंने ही मास्टर को जगाया।

"मास्टर साहब !"

"हैं !" वे जागे।

मास्टर का मुख जैसे रक्तहीन हो गया था।

"सोए नहीं रात-भर ?"

"सोया क्यों नहीं !"

फिर जो कृष्ण का बिस्तर देखा तो मुझे जैसे काठ मार गया। वह वहां नहीं था। मास्टर ने देख लिया। रेवत तभी चाय लेकर भीतर घुसा।

मैं बैठ गया।

"चाय पी लो मास्टर साहब।"

"आप पीजिए।"

"पियो।" मैंने प्याला बनाकर दिया।

मास्टर रोने लगा।

"हिम्मत रखो।" मैंने कहा।

"क्या रखूं हिम्मत ? क्या करूंगा मैं ?"

रेवत ने कहा, "क्या बात हुई हुजूर ?"

मैंने बात छिपाने की चेष्टा की। कहा, "कुंवर सा'ब टहलकर नहीं आए ?"

"जाएंगे कहां ?" रेवत ने कहा, "पानी बरस रहा है। देखूं !" वह बाहर चला गया।

"मनुष्य में एक आवेश नाम की चीज़ होती है मास्साब ! कृष्ण को धक्का लगा है कि वह उस पेड़ का पात नहीं है जिसका कि वह अपने-आपको समझ रहा था। इसमें उसे लगा है कि वह अब आपके पास नहीं रह सकता।"

"मैं यह सोच रहा हूं," मास्टर ने कहा, "कि वह नाज़ुक लड़का, इस सर्दी-पानी में कहां चला गया है ?"

"कहीं नहीं," मैंने बात को हलका करने को कहा, "आप इतने हताश क्यों होते हैं ? जब वह ठीक हो जाएगा, यहीं लौट आएगा।"

"तो आप कहते हैं कि तब तक हम चुप बैठे रहें ?"

"आप कुछ सोच रहे हैं ?"

"नहीं।"

"नहीं ? तो क्या करिएगा ?"

"आपने भी कमाल की बात कह दी !"

"कैसे ?"

"मैं ज़मींदार साहब को तार दे देता हूं और उसे ढूंढ़ने जाता हूं।"

"कहां ?"

"कहीं भी।"

"फिर यहां उनके आने पर उन्हें मिलेगा कौन ?"

मास्टर ने चिंता से मुझे देखा और कहा, "यह भी बात पक्की है। हां, ठीक है। आप ! आपको रुकना पड़ेगा !"

"मुझको ?"

"जी हां। और कौन रुकेगा !"

"वे आएंगे ?"

"ज़रूर आएंगे।" मास्टर ने कहा, "नाराज होंगे कि हम नहीं गए, और उलटे बुलाया है। मैं जाता हूं।"

"चाय तो पी लीजिए।"

"बहुत नमक खाया है उनका।" मास्टर ने उठते हुए कहा।

मास्टर बाहर निकल गया।

और चिल्लाया, "शर्मा साहब ! शर्मा साहब !!"

"क्यों, क्या बात है ?"

"देखिए ! कीचड़ में सीधी लीक गई है। गाड़ियां इधर ही से गई हैं।"

"गाड़ियां !" मैं बुदबुदाया।

"इधर से गई हैं।"

मैं नहीं बोला।

तब मास्टर उधर ही चलने लगा।

मैंने पुकारकर कहा, "आप जा रहे हैं ?"

वह रुक गया।

"हां।"

"कहां ?"

"जहां लीक ले जाए।"

"लेकिन लीकवाले लीक पर गए हैं। आप लीक छोड़कर चलनेवाले को कहां पाएंगे ?"

"शायद वह उसे ही लीक समझकर चला गया हो।"

"पर मुझे कैसे पता चलेगा कि आप कहां गए ?"

"मैं लौटकर सूचना दूंगा। आप ज़मींदार साहब को बुला लें। तसल्ली दें।"

वह बढ़ चला। मैं देखता रहा। जब वह कदम्बों में ओझल हो गया, मैं फिर कुर्सी पर आकर बैठ गया और सोचने लगा।

तो सब कुछ समाप्त हो गया। जिसकी आशंका थी, वही होकर रहा। लड़का तो जाने कहां पहुंचा। अब क्या वह मिलेगा ? मिल भी गया तो क्या फायदा ? वह तो शायद पहचानेगा भी नहीं। जो ऐसी आंधी में गया, वह क्या लौटेगा ? इतने दिन पाला-पोसा और यह हाल हुआ। अब बूढ़ा आकर भी क्या करेगा ? सिर फोड़ेगा अपना।

अचानक मेरी दृष्टि उसी कापी पर पड़ी।

खोलकर देखी। निगाह पड़ी। पढ़ने लगा मन ही मन :

"यात्री ! जब तुझे अपने पथ पर चलना ही पड़ेगा
तब तू भयभीत तो न होगा ?
हम सब जिन्हें अपना समझते हैं
वे क्या अपने होते हैं ?
ये सारे संबंध
हम स्वयं बनाते हैं,
सब एक-दूसरे के लिए बहुत सारा
प्रेम दिखाते हैं,
पर जब एक भी चला जाता है तो यही
कह दिया करते हैं—
अब के इसकी बारी थी
उसे बुला लिया गया।
और पूछते हैं—
हमारा नम्बर कब आएगा ?
यात्री ! जब तुझे अपने पथ पर चलना ही पड़ता है,
तो तुझे भयभीत होकर भी क्या मिलेगा ?
यदि डरने में मुक्ति मिले तो
वीरता दिखाने की मूर्खता कभी न कर।"

पढ़कर मेरी आखें झुक गईं और लगा कि मेरा जीवन भी तो एक···

दूसरे दिन एक तांगा आकर रुका।

एक व्यक्ति उदास-सा उतर आया। मैंने पहचाना। अरे ! बाबू राम-प्रसाद आ गए थे।

उस समय रेवत नहीं था।

उन्होंने मुझे देखा और नहीं पहचाना।

मैंने स्वागत किया।

मैंने कहा, "आइए।"

वे आए। बैठे। इधर-उधर देखा।

पूछा, "मास्टर साहेब कहां हैं ?"

"कहीं चले गए हैं।"

"और किशन कहां है ?"

"वे तो न जाने कहां चले गए।"

"खो गया ?"

"जी हां, फिलहाल तो यही कहना चाहिए।"

"मेरा वह नौकर मंगल मर गया। आपको पता है ? पर आपको क्योंकर पता होना चाहिए ?"

"जी, मुझे मालूम है, क्योंकि मैं कुंवर साहब के पास ही ठहरा हुआ हूं।" मैंने उन्हें तसल्ली देने के लिए कहा।

"लेकिन यह कोई सबूत नहीं है," उन्होंने कहा, "कि वह मेरा बेटा नहीं है। मैं यह कैसे मान लूं···"

"मैं वही प्रोफेसर हूं, जो आपको सत्रह साल पहले यहां मिला था।"

"प्रोफेसर साहेब ! इस तरह तो किसीके भी लड़के के बारे में कहा जा सकता है।" वृद्ध ने कहा, "कौन-से सत्रह साल। मैं कब मिला, यहां क्यों हूं, कुछ भी वृद्ध के दिमाग में आया ही नहीं, न यह उसके लिए इस समय महत्त्व रखता था। मैं था, बस यही काफी था।

"जी हां !" मैंने कहा, "लेकिन बदकिस्मती से मास्टर साहब भी इस राज को छिपा न सके और बात कुंवरसाहब को पता चल गई।"

"तो क्या हुआ ? मैं समझा दूंगा। लड़का है मेरा ही बेटा न ? वही खून है। तभी तो इज़्ज़त के लिए पागल हो उठा। उस खत ही की सब गड़बड़ी है न ?"

फिर कहा, "यह तो नहीं कहूंगा मैं कि मंगल को किसीने ऐसा झूठ कहने की रिश्वत दी थी, उसकी तो मुझे कोई बिना नज़र नहीं आती।" वह खुद मुस्कराए और कहा, "मास्टर साहब ! बेचारे ! वे क्या जानें। वह खत है या आफत !"

उनके मुख पर एक विषाद-भरी मुस्कराहट तैर गई।

"जी," मैंने कहा, "खत की बात नहीं।"···फिर कहा, "राज़ नहीं छिपा सके।"

"तो गोया कोई राज़ था ?" उनकी भौंहों में बल पड़ा।

"जी हां।"

"क्या राज़ था ?"

"ऐसा वे कहते थे।"

"क्या कहते थे ?"

"उन्होंने कुंवर साहब से कुबूल किया कि..."

"वह लोहपीटा था ?"

"जी हां।"

"किसके सामने कहा ?"

"मेरे।"

"और ?"

"और कोई नहीं।"

"यह आप क्या फरमा रहे हैं ? तब तो मैं कहूंगा कि इस आदमी की अक्ल जल्दी ही चरने जाएगी और मुझे इसे सचमुच बकरी बनाना पड़ेगा।"

"जी, मैं समझा नहीं।"

"मत समझिए।"

"आप तो कुछ जोश में हैं।" मैंने कहा, "बेअदबी माफ हो।"

"तो मतलब यह कि यह सच है ?"

"जी हां !"

"तो किसने कहा ?"

"मास्टर साहब ने।"

"लड़के के सामने ?"

"मास्टरजी थे, और वे भी थे।"

"मैं मास्टर का खून कर दूंगा।"

"जी......"

"आप बेफिक्र रहिए। क्या नाम है आपका ?"

"प्रोफेसर........"

"जी हां परफैसर साहेब !"

मैं उस आवेश को देखकर मन ही मन घबरा गया।

सोचने लगा, क्या करूं, क्या न करूं।

"मास्टर अब कहां है ?"

"उन्हें ही ढूंढ़ने गए हैं"

उनका स्वर भर्रा उठा, "मैंने उस लड़के को कितनी हिफाज़त से रखा था ! अब उसे ढूंढ़ने की ज़रूरत पड़ गई। यह मास्टर करता क्या था ? बस खाना-पीना और मौज करना। इसकी रोटी चलती रहे, इसलिए इसने मेरे लिए एक लड़का ही लाकर वहां रख दिया ? वाह ! ! वाह ! ! ! क्या बात है ! क्या करिश्मा है !" फिर कहा, "कब का गया है वह ?"

"जी ! आपको मैंने ही कल उनके नाम से तार दिया था। मास्टर साहब बहुत घबरा गए थे।"

"और घबराता नहीं तो करता ही क्या ! फिर ?"

"वे चले गए, मुझे तार देने भेजा।"

"आपने तार दे दिया साहेब ! आगे भी कुछ हुआ ?"

"सरकार, आज तशरीफ ले आए।"

"बस ? फकत ?"

"अब तक तो इतनी ही बात है।"

"तो अब बात आमादा होगी।" उन्होंने कठोरता से कहा।

मैं सुनता रहा।

उन्होंने फिर कहा, "तो ज़िन्दगी में कुछ ऐसा भी है परफैसर साहेब ?"

"जी, कैसा ?"

"जिससे उम्मीद की जा सके ?"

"उम्मीद हमेशा दूसरों से की जाती है।"

"आप ठीक कहते हैं। उसमें तकलीफ हो सकती है। यही न आप पोशीदा तौर से मुझे समझाना चाहते थे ? आप अच्छी गुफ्तगू करते हैं। लेकिन मैं कब तक बंधा रहूं ? मेरा बेटा कहां है ?"

"उनका क्या ठिकाना है !"

"तो फिर आखिर भरोसा नाम की कोई चीज है ही नहीं ?"

"भरोसा !" मैंने कहा, "ज़िन्दगी एक जादू है बाबू साहब !"

"फिर कहिए ज़रा।"

"जादू।"

"जादू ! हा हा हा !" वे हंसे और बोले, "जादू !"

"हो जाता है कभी-कभी !" मैंने कहा।

"तो ठीक है। मैं भी मास्टर का खून करूंगा। उसके बच्चे तड़पेंगे। हो जाता है ऐसा भी कभी-कभी।"

वे ऐसे कह गए जैसे निहायत मामूली बात थी। मुझे अब मन ही मन कुछ शंका होने लगी थी। था रईस। कहीं पिस्तौल न लाया हो यह अपने साथ। रखा हो कहीं जेब के भीतर तो ! मैंने उनका वह ध्यान मास्टर से हटाने की इच्छा से कहा, "वे तो शायद न भी आएं।"

"डरता है इसलिए ?"

"उससे आपको क्या फायदा होगा ?"

"फायदा ! मैं तड़पूंगा, वे भी तड़पें।"

"मौत एक ही जगह आएगी कि सब जगह ?"

"सब जगह। लेकिन मेरे भी कुछ सवाल हैं। सुनिए। अव्वल तो यह बताइए कि मेरी इज़्ज़त थी। अगर खत कहता था तो भी मास्टर ने क्यों कहा ?"

"वे क्या करते ?"

"अब वह लोहपीटा है, मेरे घर में वह क्या इज़्ज़त पाएगा ?"

"सब तो नहीं जानते न ?" मैंने ज़बर्दस्ती बाबू साहब की दुनिया में इस समय इस भांति नई परम्परा में अपने को पाया नहीं।

"वह लड़का अब खुद मुझे गैर समझेगा।"

"नहीं, वह समझ जाएगा।"

"अच्छी बात है।" वे बोले, "मुझे क्या पता था कि वह एक दिन घर छोड़कर भागेगा ! मैं पूछता हूं, उसे धरमराज बनने की ज़रूरत ही क्या थी ?"

मैंने कहा, "सचाई के पहलू बहुत-से होते हैं बाबू साहब !"

"आप अपना फानूस घुमाते चलिए। रंग वही नज़र आते रहेंगे।"

"क्या आप सुनेंगे कि मास्टर की क्या मजबूरी थी ?"

"फरमाइए।"

"आपके कुंवर साहब उसी लोहपीटे की लड़की पर मोहित हो चले थे जिसके कि वे बेटे थे।"

"शाबाश ! लेकिन आपको कैसे पता चला ?"

"क्योंकि मैं इस बात को सत्रह साल पहले ले जाता था। मास्टर खुद जानता था। मगर कहा नहीं, क्योंकि कहना शुरू नहीं कर पा रहा था। आपकी घर से उसी शाम को स्वर्ग सिधार गई थीं।"

"मास्टर ने इसे गवारा नहीं किया। यह माना जा सकता है ?"

मैं समझा था कि उनपर असर पड़ेगा। बोले, "पूरे अहमक हैं वे। अगर लड़का उसपर रीझा हुआ था तो पकड़कर बिठा लेते। मजाल क्या थी उसकी जो यह गड़बड़ी करता ! उसे इतनी छूट यहां कैसे मिल गई ?"

"वे उसे एक स्वतन्त्र नेता बना चुके थे !"

"क्या बना चुके थे ? स्वतन्तर नेता ? आजकल बहुतेरे हैं, एक वह नई तरह का नेता बन जाता ! उसमें क्या हर्ज था ! बहुत-से ज़मींदारों के बेटे आजकल पोलिटिकल पार्टियों में शामिल हो रहे हैं।"

अभी मैं उत्तर देना ही चाहता था कि मास्टर साहब मुझे कीचड़ से लथपथ आते दीखे। मैं खड़ा हो गया।

वृद्ध ने चौंककर कहा, "क्या हुआ ?"

"मास्टर साहब..."

"कहां हैं ?"

"वे आ गए..."

मास्टर ने मालिक की ओर देखा तो पैरों पर गिर पड़ा, और वह रोने लगा।

वृद्ध का आवेश थम गया। नयन संकरे हो गए। मुखाकृति फिर से कठोर हो गई, जैसे वह माफ नहीं करेंगे।

"रो लीजिए !" बाबू रामप्रसाद ने धीरे से कहा, "आप समझ गए ? हुकूमत हम लोगों ने की थी। आप लोगों में इसकी तमीज़ नहीं है। आपने उसे नेता बनाया था। अब भुगतिए ! भुगतिए। अपने किए का नतीजा उठाइए।"

मास्टर ने चिल्लाकर कहा, "मालिक ! मैंने नहीं बताया उन्हें ।"

"किसने बताया ?"

"मैं मजबूर हो गया था ।"

"दगा और फरेब आपके खून में है । क्यों न आपका खून कर दिया जाए ताकि इस दुनिया में एक नज़ीर कायम हो जाए !"

"मैं इसी लायक हूं ।"

"आप नालायक हैं ।"

"मैं कब इंकार करता हूं !"

मैंने देखा, वृद्ध हिल गया ।

"मैं अकेला आदमी हूं, बूढ़ा हूं और अब मेरी ताकत जवाब दे चुकी है मास्टर साहेब । क्या यही वक्त था जब ऊपरवाले को मेरा इम्तहान लेना था ? आप हमेशा बोलते थे । आज क्यों नहीं बोलते ?"

"मालिक !" मास्टर साहब ने कहा, "आप मुझे जानते हैं । मेरा ही कुसूर है, मुझे जो चाहें सज़ा दें । लीजिए······"

मैंने काटकर कहा, "आपको पता लगा कुछ ?"

"पता ?" वृद्ध ने कहा । "हां, क्या पता लगा आपको ? मैं आपको सज़ा नहीं दूंगा । जिसने मुझे सज़ा दी है, वही आपको देगा ।"

"हां, मैं देख आया कृष्ण को," मास्टर ने आवेश से कहा, जैसा खोया हुआ सूत्र फिर उसके हाथ आ गया था ।

"कृषन कौन है ?" वृद्ध ने कर्कश स्वर से पूछा ।

मैं चौंक उठा ।

"कुंवर साहब !" मास्टर ने अचकचाकर कहा ।

वृद्ध का मुख अपमान से काला-सा पड़ गया । उन्होंने दांत पीसकर कहा, "वह कृपन हो गया ! आप भी उसे नाम लेकर पुकारने लगे इन दो दिनों में ! क्या दुनिया से गैरत उठ गई ? जिस दिन ज़मींदारियां गईं, उसी दिन कयामत क्यों न हो गई ?"

क्रोध और आवेश में उन्होंने मास्टर की गर्दन पकड़ ली । मास्टर की आंखें भय से फैल गईं । उसने गरगलाते स्वर से कहा, "मालिक···गलती हो गई······वह मेरा बच्चा है······इसीलिए मेरे मुंह से नाम निकल

गया।"

मैंने उसे छुड़ाया। कहा, "धीरज रखिए। यह आप क्या कर रहे हैं ! पहले पता तो चलने दीजिए।"

"अब है क्या जो पता लगे ?" वृद्ध ने कहा, "सब कुछ खो चुका है मेरे लिए। अब रहा ही क्या है !"

"सुनिए तो ! हां मास्टर सा'ब !"

मास्टर की घिग्घी बंध गई।

"कहिए भी कुछ।" मैंने डांटा।

"कुंवर साहब लोहपीटों के साथ हैं।"

ज़मींदार साहब के मुंह पर घृणा का भाव उमड़ आया। और तब उन्होंने कहा, "क्या कहा ? सच कहा है बुज़ुर्गों ने। वह झूठ क्योंकर होने लगा ! नहीं, वह तजुर्बे की बात है। वह पक्की है। समंदर का खारा पानी कितना भी बादल क्यों न बन ले, पहाड़ों की चोटियों पर भी क्यों न पहुंच जाए, लेकिन हमेशा नीचे गिरता है, नीचे की तरफ बहता है, और उसी खारे पानी में जाकर मिल जाना चाहता है, जिसमें कि उसे अपनापन महसूस होता है।"

मैंने कहा, "उनके दिल को धक्का लगा है बाबू साहब।"

"कैसा धक्का ?"

"यही कि वे आपके बेटे न थे।"

"मैंने उसे इतने दिन पाला-पोसा, उसका उसने मुझे यही बदला दिया ?"

"पर आपके दिल में उन्हें जगह न मिलेगी, इससे उन्हें कितना बड़ा सदमा पहुंचा होगा। आप इसे भी तो सोचिए। वे जहां इज़्ज़त से रहे, वहां बेइज़्ज़ती से कैसे सह सकते थे ?"

"तब तो वह लोहपीटा ही था !"

हठात् मास्टर खड़ा हो गया और बोला, "बाबू साहब ! वह लोहपीटा नहीं। वह इंसान था।"

आश्चर्य से बाबू साहब के नयन फट गए।

कहा, "क्या कहा आपने ?"

मास्टर ने कहा, "इंसान !"

वृद्ध ने कहा, "वह इंसान था ! गोया वही एक इंसान था और बाकी सब हैवान हैं ?"

तड़ाक ! एक आवाज़ आई। मास्टर के गाल पर वृद्ध का हाथ बज उठा।

मैं अवाक् रह गया। लेकिन मेरे सामने इस चांटे ने सारी परिस्थिति को संभाल लिया।

मास्टर ने मालिक का हाथ चूम लिया और कहा, "मालिक ! जिस हाथ ने रोटी दी है, उसे कहीं चोट तो नहीं आ गई ?"

ज़मींदार साहब को जैसे चक्कर आ गया। मास्टर ने उन्हें थामकर खाट पर लिटा दिया।

"गश आ गया है।" मास्टर ने कहा।

मैंने कहा, "डॉक्टर बुलवाइए। इंजैक्शन लगना चाहिए।"

बगल में ही अस्पताल था।

मास्टर ने कहा, "रेवत कहां है ?"

रेवत दौड़ाया गया।

डॉक्टर ने इंजैक्शन दिया और लौट गया।

बाबू साहब उठ बैठे और बोले, "मैं कहां हूं ? मेरा बेटा कहां है ?"

"वह चला गया है सबसे रूठकर।" मास्टर ने कांपते कंठ से कहा।

"कब आएगा वह ?"

"मालिक···"

"मुझे अब मत बहकाओ मास्टर···"

"मैं मर जाना चाहता हूं मालिक···"

"अपनी मौत मुझे उधार दे दो मास्टर···"

"मालिक···"

"उसे ले आओ मास्टर साहब ! मैं बूढ़ा हो गया हूं। अब मैं बहुत दिन नहीं जिऊंगा···मैं उसके बिना रहकर भी क्या करूंगा···"

मास्टर रोने लगा।

"तुम रोते क्यों हो ? छिपाते हो तुम कुछ मुझसे !"

"नहीं, मालिक···"

"वह चला गया है न ? कहां चला गया है ?"···

"क्या उसे मालूम है कि मैं यहां आ पड़ा हूं ?"

"नहीं···" मास्टर का गला रुंध गया।"

वृद्ध ने मेरी ओर देखा और कहा, "इन्होंने कहा ही नहीं। कहते तो वह इन्कार कर सकता था ? वह कुछ कहता तो होगा ?"

"मैंने कहा था," मास्टर ने कहा, "तो वे बोले, पिताजी मुझसे नफरत करेंगे मास्टर साहब !"

"क्या कहा उसने···?"

"मैं कैसे दुहराऊं···" मास्टर ने कहा।

"पागल ! मैं उससे नफरत करूंगा ?" फिर मुझसे कहा, "सुनीं आपने लड़के की बातें ? मैं उससे नफरत करूंगा ?"

वे हंसे।

"मास्टर साहब ! बच्चे को ठीक से तुमने पढ़ाया नहीं, वरना क्या वह ऐसी नादान बात कह देता ?"

मास्टर का मुंह नहीं खुल सका।

"मुझे ले चलो वहीं।" वृद्ध ने उठने की चेष्टा करते हुए कहा, "तो मैं ही चलूंगा। मेरा बच्चा मुझसे दूर होना चाहता है···"

मैंने कहा, "आप कमज़ोर हैं···"

वृद्ध ने उठकर कहा, "अब रहने दीजिए आप। इस वक्त अशगुन की बात न करिए। मैं अब सेहत खोऊंगा भी क्या ? मेरे पास बुढ़ापा है मेरे जवान दोस्त ! वक्त बरबाद मत करो। उठो।"

वे बाहर आ गए।

कार का ड्राइवर वहीं था। बोला, "हुज़ूर ! गाड़ी तैयार है।"

"अरे तू यहीं है ! वे बोले, जैसे सब कुछ भूल चुके थे।

हम लोग कार में चल पड़े। रास्ता कीचड़वाला और खराब था। मास्टर अभी तक वही कीचड़ से लथपथ कपड़े पहने था।

अब मैंने उसके कंधे पर हाथ रखा और कहा, "मास्टर साहब! आपके कपड़े गीले हैं।"

"सूख जाएंगे, सूख जाएंगे।" मास्टर ने टालते हुए कहा।

"आप भीग कैसे गए ?"

"शायद पानी बरसा था न ?" बिलकुल अस्थिर-से शब्द।

पानी तो काफी बरसा था। अब मैं समझा। मास्टर बराबर भीगता ही रहा था ! उसे अपने तन-मन की सुध नहीं रही थी।

मास्टर ने जहां कार रुकवाई, वहां काफी लोगों की भीड़ हमें दिखाई दी। माह का मेला जुड़ रहा था।

आकाश में बादल नहीं थे, आकाश की जगह बादल था, क्योंकि हवा भी भीगी थी, धरती भी भीगी थी और दिगंत तक मैली-सी छाया हिलोरे ले रही थी। फिर भी जीवन अपनी जगह आबाद था।

कहीं चर्खी पर लोग घूम रहे थे, कहीं तरह-तरह के खेल हो रहे थे। दुकनदार (दुकानदार नहीं) वहां मौजूद थे, खौमचेवाले थे। गांव के मर्द और औरतों में आज भी उत्साह था। मेला था किसी सती का। वह तो जुड़ना ही था। वर्षा-पानी से क्या हुआ ? इस वर्ष वर्षा है, गतवर्ष धूप थी, फिर वही धूप लौटेगी। बच्चों की किलकारियों सें सर्वत्र उत्साह-सा लगता था।

गाड़ियां ही गाड़ियां खड़ी थीं। शायद यहां लोहपीटों के दल के दल भी इकट्ठे हुए थे। ऐसे मेलों में दो-दो सौ गाड़ियां आती हैं, अतः लोग फिर उनको देख आश्चर्य नहीं करते। साधारण गांववाले अपनी रीति से चलते हैं, उनकी नज़र में एक लोहपीटे भी हैं, जिनके अपने रिवाज हैं। ऊटों के पास बद्दी पहने गूजर थे। गले में कीमती सोने की बद्दियां, गले का काला रंग, बद्दी पीली। सिर पर पाग। देह पर फितूरी, उसपर कंबल या रजाई। घुटनों तक की धोती। अनगढ़पन, और खूब खाने का बेफिक्र हौसला।

कहीं कोई औरत घूंघट में से दो उंगलियों को अलग कर उसके बीच से झांकती दीखती, तो कहीं कोई पांवों के बिछुए बजाती चली जाती। जहां दल होते, वे गाते। छैला लोग कानों में इतर के फोहे लगाए पान चबाते, कुछ फोश मज़ाक करते। एक कोई बात कहकर घुटता-घुटना-सा हंसता तो उसके कोट पर पान की पीक गिरते-गिरते बचती और फिर

दूसरा ऐसे बढ़ता जैसे उसकी दिल्लगी ऐसे कमाल की है कि मार ही देगा, मगर शीघ्र ही वह भी हंसता और फिर सारा टोल रसिया गाने लगता···

यह आनन्द का दिन था। आनन्द के भी अपने-अपने मानदण्ड होते हैं। बीड़ियों के धुएं की लहरियां कम दीखतीं। आज अनामिका और बीच की उंगली के बीच सिगरेट को लगाकर लोग मुट्ठी बांधकर दम लगाते और ढेर सारा धुआं छोड़ते। एक बिरादरी के तीन-चार होते तो वे इकट्ठी सिगरेटें नहीं जलाते, वरन पहले बारी-बारी से एक ही को पीते।

कार में से हम लोग उतर पड़े। ड्राइवर ने खिड़की को बन्द कर लिया।

तमाशबीन अपने फेंटे बांधे थे और अब मेला समुद्र की लहरों की तरह दीखता था।

देहात में मेला वही महत्त्व रखता है जो नगर में समवेत मनोरंजन, क्योंकि यहां तो सभी कुछ एक ही स्थान पर आता है। उस दिन लोगों में एक आंतरिक उत्साह-सा दिखाई देता है।

उस कोलाहल में बाबू साहब ने कहा, "लड़का मेला देखने आया है ?"

मास्टर ने कहा, "आप किनारे आ जाइए !"

"क्यों ?"

"भीड़ बहुत है।"

"मुझे किसका डर है मास्टर साहब ?"

मास्टर ने मुझे निराशा से देखा।

"कहां है मेरा बेटा ?" बाबू साहब ने आतुर होकर पूछा।

मैंने कहा, "धीरज रखिए बाबू साहब।"

"अब भी धीरज रखूं ?" उन्होंने आश्चर्य से पूछा।

मास्टर साहब ने मुझसे कहा, "यहां तो तमाम लोहपीटे जमा हैं। मैं तलाश करता हूं।"

"किससे पूछिएगा ?" मैंने कहा।

"देखिए, इधर चलिए। मास्टर ने कहा। हम भी पीछे चले। मास्टर जैसे आदमी ढूंढ़ रहा था। तीन-चार लोहपीटे थे। मास्टर उन्हींके पास

जाकर रुक गया । वे चौंके । एक सामने था ।

मास्टर ने कहा, "तुम मोती को जानते हो ?"

"कौन मोती ?"

"तुम्हीं लोगों में से है ।"

"हम चौहान हैं । वह कौन है ?"

"पता नहीं ।"

"सोलंकी है ?"

"पता नहीं न ।"

"तो कैसे पता चलेगा ?"

और वह अपनी जुलफें काढ़ने लगा । जैसे हम वहां थे ही नहीं ।

मैंने कहा, "अरे ज़रा हमारी मदद कर भाई ! तुझे बाबू साहब इनाम देंगे ।"

"इनाम क्या करेंगे हुजूर ! हम छिपाकर क्या करेंगे ? हम नहीं जानते ।"

तब हम आगे बढ़े ।

मास्टर ने कहा, "आप यहीं ठहरें । मैं अभी ढूंढ़कर लाता हूं ।"

हम वहीं रुक गए । मास्टर चला गया ।

बाबू साहब थक गए थे । हम एक पेड़ की छाया में बैठ गए ।

मैंने देखा, वृद्ध के मुख पर असीम थकान-सी छा गई थी ।

"परफैसर साहेब !" उन्होंने करुण स्वर से कहा ।

"कहिए ।" मैंने ऊंचे स्वर से कहा ।

"मेरा बेटा मिल जाएगा ?"

"मिल जाएगा ।"

"वह लोहपीटा है तो क्या ? मैंने उसे पाला है शर्मा साहेब ! वह कुछ भी क्यों न हो, मैं क्या उसे छोड़ सकता हूं ?"

मुझे दया आ गई ।

दुपहर ढल चली थी । मैंने एक सिगरेट उनकी ओर बढ़ाई, कहा, "जी हलका करिए । बैठे-बैठे वक्त काटना मुश्किल होता है ।"

"अच्छा, अच्छा," वृद्ध ने कहा, "आपको कैसे सब मालूम हो जाता

है ? बूढ़ा आदमी बहुत बेकार होता है! यह मैं अक्सर सोचता था, परफैसर साहेब !"

"जी हां।"

"एक बात पूछ लूं ?"

"हुक्म दीजिए।"

वृद्ध की आंखें चमक उठीं। कहा, "अगर वह यहां नहीं मिला तो ? तो मैं क्या करूंगा शर्मा साहेब ! आप मुझे यहीं छोड़ जाइएगा। मैं यहीं मर जाऊंगा। भीड़ मेरे ऊपर से गुज़र जाएगी।"

लेकिन तभी मास्टर ने आकर कहा, "मिल गए।"

"मिल गया !" वृद्ध आवेश में पुकार उठा।

वृद्ध तेजी से आगे बढ़े और बोले, "जल्दी चलो।"

जिस तरह जलता हुआ दीपक अपनी रोशनी बढ़ा दे तो ऐसा प्रायः होता है कि वह बुझने को होता है, ठीक यही, मुझे उस समय भ्रम-सा हुआ। क्या यह आवेश इनमें इसीका प्रतीक है ?

हम तीनों बढ़ चले।

मास्टर एक जगह रुक गया।

मैंने देखा। मोती था।

उसने देखा, और देखता रहा।

मैंने कहा, "मोती !"

"हुज़ूर !"

"पहचाना ?"

"वहीं डाकबंगले से हुज़ूर आए हैं न !" मोती ने कहा। उसके स्वर में एक प्रकार की कठोरता-सी थी। हटकर बोला, "वहीं से कहें जो कुछ आपको कहना हो !" उसका स्वर अपने-आप फिर कुछ बुझ गया। कहा, "कहें क्या काम है ?"

"कृष्ण कहां है ?"

"अजी हुज़ूर, वह बाबू तो पागल है।"

"बेवकूफ !" बाबू साहब गरजे, "पागल कहता है उसे !"

मोती की आंखों में खून छलक आए।

"तू मेरे बेटे को चुराकर लाया है !" बाबू साहब गरजे।

"तुम्हारे बेटे को ?" मोती ने व्यंग्य से कहा, "बाबूजी ! बाबू बनना आसान है ! लेकिन हम जैसा बनना आसान नहीं।"

"बड़ा रईस है !"

"रईस !" मोती हंसा, "रईस हमारे सामने क्या है बाबू ! अपनी मेहनत का खाते हैं, मेहनत का। हम चोर नहीं। चोर तो वे हैं जो अपने को बड़ा आदमी कहते हैं।"

"चुप रहो !" बाबू साहब चिल्लाए, "ऐसे ही साहूकार हो तुम ! फिर मेरा बेटा तुम्हारे पास क्यों है ? फिर उसे तुम क्यों ले आए ?"

मोती के नयनों में कुछ आश्चर्य-सा झलका। उसने मेरी ओर देखा और कहा, "कौन कहता है, हम लाए हैं ?"

बाबू साहब को अब इतना धीरज नहीं रहा था। उन्होंने आवेश से कांपते हुए कहा, "फिर वह कैसे आ गया ?"

"तुम कैसे आ गए ?"

"मैं पुलिस में रिपोर्ट करूंगा।"

"तो क्या कर लोगे ? हम भी ठाकुर हैं। चोरी का माल नहीं टिकता बाबूजी ! संभलकर बोलो। दो सौ गाड़ियां खड़ी हैं। एक इशारा कर दूं तो अभी सारी पुलिस धरी रह जाएगी। हम गांव-गांव डोलते हैं। कभी इधर का उधर उठाकर नहीं रखते, कभी बहू-बेटियों की इज्ज़त से हाथ नहीं लगाते। तुम्हारी तरह हम लोग ढोंगी नहीं हैं। समझे ? हम अहदवाले हैं। लेकिन किसीके गुलाम नहीं हैं।"

उसका वह रूप देखकर मैं भी सकपका गया।

फिर मोती ने हिकारत से कहा, "मैंने बघेरों से लड़-लड़कर अपने दिन बिताए हैं। मैं लड़का लाऊंगा ? वह पागल लड़का है। हमारे साथ दो दिन रहा, भीगकर ही उसे बुखार आ गया। वह क्या मिलेगा हमारे साथ ?"

"बुखार ?" मास्टर साहब ने कहा।

"हां, पड़ा है उधर..."

हम उसी ओर भागे।

देखा, एक गाड़ी के सहारे कृष्ण लेटा था। मां की गोदी में सिर था।

बगल में बहिन बैठी थी।

"बेटा!" वृद्ध बाबू साहब पुकार उठे।

"कौन?" उसने देखा।

"तू मुझे भी नहीं पहचानता?"

"आप? यहां?"

उठने की कोशिश की, पर उठ न सका।

बाबू साहब ने कहा, "अरे, तुझे तो बहुत तेज़ बुखार है! उठाइए मास्टर साहब। मेरा बच्चा धरती पर पड़ा है, जल्दी मोटर में लिटाइए, डाक्टर···"

"अब नहीं," कृष्ण ने कहा, "अब नहीं···"

"बेटा···" बाबू साहब ने पुकारा।

कृष्ण ने मुंह फेर लिया।

"तू मुझे भूल गया बेटा?" वे कराह उठे।

कृष्ण की आंखों से आंसू बह निकले।

वृद्ध ने उसे छाती से चिपका लिया।

मोती ने कहा, "पीछे हट जाओ! चौहान का बेटा चौहान है। अब वह मेरा है। अब मुझे विश्वास हो रहा है कि वह अहद पर कायम रहेगा।"

वृद्ध ने फिर पुकारा, "किशन···"

कृष्ण ने वृद्ध को छाती से लगाकर कहा, "आप लौट जाइए पिताजी! आप लौट जाइए। आपके कपड़े मैले हो जाएंगे···आपने मुझे पाला-पोसा ···पर मेरा दोष नहीं···सच···मैंने धोखा नहीं दिया आपको!"

"बेटा, मेरी किस्मत ने मुझे धोखा दे दिया," वृद्ध ने कांपते स्वर से कहा। उसके हाथ कृष्ण की पीठ पर कसते जा रहे थे।

"मैं आप लोगों में से नहीं हूं," कृष्ण ने कहा।

"कौन कहता है, कौन कहता है बेटा?"

"मंगल मर गया···" कृष्ण ने कहा।

"तो क्या हो गया? सभी एक दिन मरते हैं मेरे बेटे!"

"सब···सब मुझसे नफरत···करते वहां···मैं वहां लौटकर भी क्या करता···वहां···"

कृष्ण का स्वर कांपने लगा। खांसी आई।

"करने दे बेटा, पर मैं तो तेरा हूं।" वृद्ध ने कहा, "तुझे औरों से क्या? मैं तो तुझे प्यार करता हूं बेटा···"

लाली रो पड़ी और बोली, "बेटा! तू लौट जा! ईश्वर ने यही तेरे पिता बनाए हैं। हमें तो अहद हैं, तूफान हैं, आंधी हैं, पर तू नरमदेह, इन सबको कैसे झेल पाएगा! बेचारे ने तुझे बड़ी चाह से पाला है···"

"लौट जाऊं मां!" कृष्ण ने कहा, "अब लौट ही जाऊंगा···।"

मैंने झुककर देखा।

कृष्ण के मुख पर यह कैसी दीप्ति थी।

वह हंसा! कैसा था-हास्य!

"बेटा!!" मां ने पुकारा।

"जा रहा हूं।" कृष्ण ने धीरे-धीरे कहा।

मोती कुछ घबरा गया। पुकारा, "गया···"

मास्टर में एक बिजली-सी दौड़ गई। मेरी ओर देखा, फिर एक बार इधर-उधर दौड़कर उसने उसकी नब्ज़ पकड़ी और देखा मेरी ओर। दृष्टि में निराशा थी। बोला, "मेले में कोई डॉक्टर···अरे कोई जाओ···अरे कोई जल्दी करो···अरे कोई तो मेरी बात सुनो···"

कृष्ण हंसा और बोला नहीं। फिर एक हिचकी आई।

लाली और चंपा के मुख से चीत्कार गूंज उठे।

वृद्ध वहीं मूर्च्छित होकर गिर पड़ा।

मोती और मास्टर चुपचाप खड़े रह गए।

मैं आगे बढ़ा और मैंने कृष्ण की डायरी उठा ली जो वहीं पास में पड़ी थी।

४

सन् १९६० ई०

अनेक वर्ष बीत गए हैं। पता चला है कि बाबू रामपरशाद का देहांत उसी व्याकुलता में तभी हो गया था। फतहपुर-सीकरी की उनकी संपत्ति उनके संबंधी हड़प चुके हैं। मास्टर साहब पागल हो गए और उनका पता नहीं चला। उनके बच्चों का क्या हुआ, यह भी ज्ञात नहीं हो सका। लोह-पीटे चले गए। वे चलते ही रहते हैं।

आज बक्स खोलते में मुझे कृष्ण की डायरी मिल गई है। कवि का मन आज मैं फिर देख लेना चाहता हूं, क्योंकि इसमें ही मुझे साहस और संबल मिलता है।

कविताएं हैं—

"तुमने मुझे शिक्षा दी,
मैंने अपने मन को उन पत्तों की टहनी की तरह
आगे कर दिया
जिसपर ओस की बूंदें जम जाती हैं,
हवा का झोंका आएगा,
बूंदें गिरा जाएगा,
टहनी ज्यों की त्यों रह जाएगी।
मुझे और बताओ···
और ओस की बूंदें दो···
मुझे यह बताओ कि यह जीवन ही
ओस की बूंद है
या जीवन इस टहनी का नाम है

जो कि इन बूंदों को पीकर भी
प्यासी रह जाती है···
घनी-काली-अंधेरी रात है, समीरण सनसना रहा है,
जंगल में हवा जानवर की तरह हांफ रही है,
अंधेरा एक बहुत बड़े मच्छ-सा डूबता-उतराता है,
उसके सींग से जैसे आकाश बंधा है,
कभी उसके साथ गिरता है, कभी उठता है,

ओ नींद ! तू मेरी आंखों को छोड़कर क्यों चली गई है,
क्या तेरे बिना मनुष्य अनथक यात्रा नहीं कर सकता ?

मेरे स्वप्न टूट गए हैं,
क्या घर ही हमारी सभ्यता की जड़ है ?
संत कहते हैं, घर माया है,
तो क्या माया ही हमारी सभ्यता है ?
सभ्यता और माया, दोनों में ही शान्ति नहीं है,
फिर मैं इन दोनों के पीछे क्यों भागूं ?

ममता का सम्मान करूं, या सत्य का ?
सत्य कहां है ? किस पहलू में छिपा है ?
मेरा जन्म यदि माटी की बंदिश है, तो मुक्ति मुझे कहां मिलेगी ?
एक-दूसरे के प्रति सारा प्रेम यदि संपर्क से ही जन्मा है तो फिर
तो वह सामाजिक दाक्षिण्य ही कहला सकता है ?

जिन गाड़ियों में मुझे जाना था, वे चली गई हैं,
मैं उस समय भी सोता रह गया,
जबकि मुझे मालूम था कि मुझे उन्हींमें जाना था।
यह मुझे किसके नयन अंधेरे में भी बुला रहे हैं ?
क्या यह सच है कि मेरी अपमान की भावना से भी बड़ा यह मेरा

एक अनजान, मीठा, कसक-भरा-सा कोई आकर्षण है।
यह सुख छोड़कर कहां जा रहा हूं ?
क्या सब कुछ छोड़ रहा हूं मैं ?
ओ बुलानेवाली आंखो ! तुम मुझे सोचने क्यों नहीं देतीं ?
अरी बिजलियो ! चमकती हो ? चमको। तुम्हें प्रणाम !
गाड़ियां चली गई हैं, पर मुझे उनकी लीक तो मिल गई है,
शायद मुझे उन्हींसे रास्ता मिल जाए।

ओ चंपा !
गाड़ी रुकवा दे। मेरा बेटा कहीं पीछे तो नहीं आ रहा ?
यह मुझे ऐसा क्यों लगता है ?
तेरा बाप ऐसा बज्जर कैसे हो गया है कि उसे सत्रह बरस बाद मिले
पहले बच्चे के लिए तनिक भी ममता नहीं सुहाती ?
हाय मेरा बेटा पूनम का चंदा है,
या ताल का उजला-सा कमल,
या जंगल में पड़ा सूना-सा गोरोचन,
मेरे दुख को मेरा जियरा ही जानता है,
तेरा बाप तो मरद है, वह क्या जाने कि गरभ ढोने का दरद
कैसा होता है, कैसी होती है उसकी मीठी याद।

ओ री गाड़ी रुकवा दे मेरी बिटिया,
ओ परायी गाड़ी की अमानत है तू,
तुझसे हमारा बस तो नहीं चलेगा।
तेरा तो गोत भी बदल जाएगा।
मेरे मुंह में आग देने को मुझे वही चाहिए
जो मेरी कोख में पला हो।
ओ चंपा ! ऐसी ! नागिन-सी तो काली रात है,
किससे कहूं, मेरे मन में बात घुट रही है,
मुझे जाने क्यों सब घूमता हुआ लग रहा है।

कितने दिन पहले वह मेरी गोदी में खेला था
उसके मुंह को देख मैंने सोचा था मेरे जनम-जनम के
पाप तिर गए,

पर उसे तब जंगल निगल गया
बघेर का नाम बदनाम हो गया
ओ चंपा ! तब से तेरा बाप बघेरों का दुश्मन हो गया,
जैसे आकास से कोई उतर आए,
आग जल रही थी, उससे पूछ ले,
वह मेरे सामने आया था और बोला था :
मां, मैं तेरा बेटा हूं, मुझे अपनी छाती से लगा ले।
पर वह कितना कुछ और-सा हो गया था, बिदेसिया-सा
मैं न छाती से लगा पाई, न मेरा जी ही भरा,
एक बार उसे बुला सकूं, गाड़ी तो रुकती नहीं !
ओ चंपा ! गाड़ी से कह दे कि गहरी लीक छोड़े,
ताकि मेरा बेटा उसे देख-देखकर किसी तरह मेरे पास तक
पहुंच जाए।

कहां जा रहा हूं मैं,
मेरे पंथ का अंत क्या है,
ओ रात-दिन गाड़ियों में घूमनेवालो,
तुम किस बगुलों की पांत की तरह अनंत आकाश
में उड़े जा रहे हो ?
मैं एक बिखरा हुआ मनका हूं, मुझे भी अपनी माला में पिरो लो ?
संसार में बाजूबंद हैं जड़ाऊ जैसे
ऐसे कई नगर हैं,
सीसफूल-से गांव हैं।
जिनके तालों में कांच झिलमिलाता है,
हरियाली जिनमें अलसाकर सोती है,

तुम किस अहद के लिए घूमते रहते हो ?
जैसे आकाश में तारे घूमते रहते हैं।
हम-तुम असल में एक हैं।
तुम रूठे हुए हो, घूम रहे हो,
ठहर जाओ कि हम ठहर कर बस जाएं,
तुम नहीं मानते तो सुनो कि मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे
आ रहा हूं···
तुम भी कहीं नहीं जाते,
तुम भी दिन काटने को घूमते हो,
अरे बावलो ! दिन तो उस्तरे से भी तेज़ होते हैं;
सूरज उस उस्तरे की धार है···
उसपर संसार अपने-आप कट जाता है
फिर भी दिन नहीं चुकते,
न सूरज थमता है···
यह कैसी दौड़ है जिसे मैं नहीं समझ पाता···

कदम की छांह में मेरा लाड़ला खोया था,
मेरे दुधमुंहे को मुझसे कौन छीन ले गया था ?
ओ सूनी डरावनी रात ! तूने उस दिन भी मुझे सताया था
और आज भी वैसे ही सता रही है।
सारा आकास मेरी गाड़ी के चक्कर लगाता है,
पर मेरा बेटा मुझे नहीं मिलता।
नीला कदम है यह आकास
इसकी छांह में मेरा लाड़ला खोया था।

बावरी ! इस नीले कदम के नीचे
कौन नहीं खोया !
कौन-सा पुराना ज़माना था
जब हमारे पुरखों ने अहद लिया था कि

वे कभी घर बसाकर नहीं रहेंगे,
किसलिए किया था उन्होंने ऐसा,
पर अब हम धर्म को कैसे छोड़ दें ?
धरती हमारे पास नहीं कि खेती-बारी करें,
दुकान हम नहीं करते कि माल बेचें,
गरब-गरूर है हमें अपने पुरखों का,
वह कौन-सा अहद था कि वे लोहा ठोकते थे
और हम आज भी ठोकते हैं···
गांव-गांव डोलते हैं···
तपाया लोहा हमारे ठंडे लोहे की चोट से
रूप बदल देता है···
हमारी औरत जब मुर्दा खाल की धौंकनी फूंकती है
दोनों हाथों से चलाती है,
तब आग हरहराती है···
पर हमें घर की मुसीबत नहीं।
ओ बावरी ! मानुस पहले घर बांधता है,
फिर उस घर में जब रहने लगता है
तब वह घर ही उसे बांध लेता है।

सुनो मेरी सुनो !
ओ जाने वालो सुनो !
चैत-बैसाख, जेठ-आसाढ़, सावन-भादों,
तुम्हारी गाड़ी के एक पहिये में अरों की तरह लगे हैं,
क्वार-कातिक, आसौज-पूस, माह-फागुन,
तुम्हारी गाड़ी के दूसरे पहिये में अरों की तरह लगे हैं,
काल के खेतों और
काल के दगरों में होकर तुम्हारा यह रथ जाता है,
सूरज और चंदा तुम्हारे दो बैल हैं,
एक बाहरला है, एक भीतरला,

कब तक चलते जाओगे,
ओ जाने वालो सुनो !
मेरी सुनते जाओ !

कोई बैल आंख पर पट्टी बांधे कोल्हू में जुतता है
और दिन-रात खटता रहता है,
घर बसाकर रहने वाले ऐसे ही तो होते हैं।
कोई बैल गाड़ी में जुतकर चलते रहते हैं,
रुकते हैं, जुगाली करते हैं, पर खींचते हैं बोझा ही,
गाड़ी जोतकर चलते रहने वाले ऐसे ही तो होते हैं
मालिक ही दोनों को चारा डालता है।
इसलिए हम जो धरती को बांधते ही नहीं,
उस धरती की याद में खोए डोलते हैं
जिसपर हमारे पुरखों का राज नहीं रहा,
तब से दिसायें हमारी भीतें हैं,
हवा के खंभ हैं,
आकास की छत है।
पर अब रुकें भी तो हम कहां रुकें ?
तू हमारा ही बेटा है,
जो बस गया है,
पलंगों पर तू सोया है,
टहलुए तेरी देखभाल पर रहे हैं,
हमें आंधी, पानी और धूप सहने की आदत पड़ गई है
तू यह सब कैसे झेल पाएगा बेटा ?
जा लौट जा ! मेरी कोख के जाये !
तू जैसे सुखी रहे, वैसे ही रह,
बहुत दिन जी !
पर यह सोच-सोचकर मेरे हिये में सूल गड़ता है कि
कौन तो तुझे अपनी बेटी देगा,

और कौन तुझे जात के बाहर मान देगा ?
ओह ! ओह ! मेरा मन यह सोच-सोचकर ही फटता है कि
मेरा बेटा बिना कारन ही इतना सताया जा रहा है !
पर बेटा ! तू न यहां रह सकता है, न वहां !
हाय ! ग्रहन के चंदा से न उजाला छनता है,
न वह कुछ और ही बन पाता है !
मैं करूं भी तो क्या करूं ?
अब तो जितने दिन हैं, जितनी रातें हैं,
सब मुझे तेरे बिना सूनी-सूनी-सी लगेंगी।
क्या मैं यह सोचूंगी कि वह जो मेरा है, वह
मेरा होकर भी मेरा नहीं रहा ?

काठ की गाड़ियों में घूमने वालो ! सुनो !
धरती एक गाड़ी है जिसपर मैं घूम रहा हूं,
पूरब दिसा मेरी गाड़ी का दायां पहिया है,
पच्छिम दिसा मेरी गाड़ी का बायां पहिया है,
मेरी गाड़ी के चलने पर धूल की तरह बादल मंडराते चलते हैं,
मैं इधर-उधर देखता हूं
सारे तारे भी घूम रहे हैं
ऐसा लगता है जैसे अंधेरे में चलती गाड़ियों की
मशालें चमक रही हों,
सच मैं किससे पूछूं कि ऐसा कौन-सा अहद है
जिसके लिए यह सब भटक रहे हैं ?

तुम्हारे पुरखों ने कहा था :
जब तक अपना राज न हो तब तक हम घर में चैन से नहीं रहेंगे,
तब तक कुंओं से पानी खींचकर आराम से बैठकर नहीं पिएंगे,
तब तक लोहे में साल नहीं करेंगे कि उसे दीवारों पर टांग दें,
उस दिन सोलंकी थे, चौहान थे,

और भी कितने ही थे,
चार गोत छोड़कर ब्याह करनेवाले कितने ही सूरमा राजपूत थे
जो अपनी आज़ादी के लिए रहते थे,
तुम उन्हींके बंसज हो :
पर तुम तो दर-दर इसलिए भटकते हो कि तुम्हारे पास कोई
रुजगार नहीं है, गांव-गांव इसलिए जाना पड़ता है;
और तुम लीक पीटते हो, कुंओं से पानी न खींचने का
मतलब तुमने यह लगाया है कि दूसरों से अपने घड़े भरवा
लेते हो।
तुम्हारी तलवारों में जंग लग चुकी है,
दरांत में साल न करके तुम किस वीरता को निभा रहे हो ?
चौहान और सोलंकी हो तुम, और भी जाने कौन हो,
गोत बचाकर अब भी ब्याह करते हो,
पर अब सूरमा कहां हैं तुममें ?
तुम किसको आज़ाद करने के लिए डोलते हो ?
मुझे बताओ ! अगर तुम किसी बड़े काम में लगे हो
तो मैं भी तुम्हारे काम में हाथ बंटाऊं

कैसी कड़कड़ाती सर्दी है,
नसों में दर्द हो रहा है,
हवा पर भयानक तूफान
अजगर की तरह गुंजलक छोड़ रहा है।
हिरना-से चंदा को उसका काले बादल-सा मुख
जाने कब का निगल चुका है।
सूना वन मेरे पथ को पकड़ बैठा है
जैसे बौहरा अपने कर्ज़दार को पकड़ बैठता है।
ओ ! मैं जो तुम्हारे
आ रहा हूं, तुम्हें अपना समझकर बढ़ता जा रहा हूं
यह सोचकर कि अब मुझे इस धन की दुनिया में कोई

इज़्ज़त नहीं मिलेगी, क्योंकि यहां अभी तक
जनम-जात की कीमत चलती है,
तुम भी मुझे अपना नहीं समझते।
ओ बरसते पानी ! तू जो पिघलते मूसलों की धारा को
गिरा रहा है,
तू मुझे बता।
क्या मैं लौट जाऊं ?
क्या जिसने मुझे इतने प्यार से पाला है,
वह अब मेरे चले जाने से दुखी न होगा ?
या वह सोचना मेरी एक भूल ही है ?
जिस समय उन्हें पता चलेगा कि मैं तो एक पराया हूं,
उनकी नज़र में मैं राह से उठाया हुआ एक पत्थर-मात्र हूं,
तब क्या वे मुझे सचमुच ही अपना, और अपने मन का,
प्यार दे सकेंगे ?
किसने मुझसे ऐसा खिलवाड़ किया ?
यदि मैं इन्हीं गरीबों में रह जाता और पढ़-लिख न पाता,
तो क्या बुरा होता ? कम से कम मेरे मन में यह कसक और
घुटन तो न होती।
सब अपने-अपने स्वार्थों को देखते हैं,
इसीलिए तो मनुष्य संसार में आकर इतना दुःखी हो जाता है।

ओ सबको चलानेवाले ! ऐसा निर्दय खेल तू क्यों खेलता है हम लोगों से, कि हम अपने जाल स्वयं बनाते हैं, और स्वयं ही उनमें जाकर फंस जाते हैं, छटपटाते हैं, और फिर भी उसीसे प्यार करते हैं...

गाड़ियां खड़ी हैं।
इनके पहियों के बीच से एक विद्रोहिणी सूरज की किरन
आ रही है, और मुझे उसमें
छोटे-छोटे कुछ तिनके से उड़ते दीख रहे हैं।
सूरज ऊपर से नीचे झुकता जा रहा है,

या हमारी धरती अपना कोण बदल रही है।
क्या यह सारी सृष्टि
इसी तरह किसी अनजान उजाले में
बह रही है ?
इन तिनकों की तरह ही यह सारे ग्रह-उपग्रह तारे हैं ?
इन गाड़ियों को खड़ा मत रहने दो
हांक दो, हांक दो।
तुमने कहा, मैंने सुना,
मैंने कहा, तुमने सुना,
पर हम दोनों ने एक-दूसरे की बात को नहीं माना।
हम-तुम दोनों ही इसी आकाश के नीचे और
इसी धरती के ऊपर रहते हैं,
फिर भी इतनी दूरी है !
तुम्हें अपने ऊपर गर्व है, क्योंकि
तुम किसी पुराने ज़माने के लिए रहते हो,
मैं अपने ऊपर गर्व नहीं करता, क्योंकि
मैं किसी आगे आनेवाले समय के लिए रहता हूं।
सच तो यह है कि आज के लिए
हम-तुम दोनों में से कोई भी नहीं रहता।
हमारे सम्बन्धों से भी बड़े हमारे विश्वास हैं,
हमारी आस्थाएं और मान्यताएं हमारे जीवन को
पकड़े हुए हैं,
हम जब बात करते हैं तब इन जालियों में होकर,
इसीलिए हम दोनों ने एक-दूसरे की बात को नहीं माना,
तुमने कहा, मैंने सुना···
मैंने कहा, तुमने सुना···

पतझर आ रहा है···
मौत आदमी की नहीं होती

जान-पहचान की होती है,
दर्द होता है
क्योंकि जिस दूकान से उधार मिलता था
उसके पट बन्द मिलते हैं।
याद आती है कि
जिसका सहारा था वह नहीं मिलता।
भूलना पड़ता है
क्योंकि रेल में बैठकर
गुज़रते हुए बिजली के खम्भों की गिनती याद नहीं रखी जा सकती;
फिर भी कसक रह जाती है
क्योंकि आंसू के रूप में सारा अतीत
पिघल नहीं पाता।
मौत हर पल कहती है
पर हम नहीं सुनते,
क्योंकि जीवन हमें चुनौती-सा लगता है।

अब और रहने दो,
मेरे पास कहने को बहुत कुछ है
पर सोचता हूं कि उस सबको कहकर भी क्या होगा ?
संसार में सबको दुख होता है
और अपना दुख सबको बड़ा लगता है,
क्योंकि आंखों पर अहम् का चश्मा लगा रहता है।
यह सारा संसार सिर्फ सफेद और काला है,
अपनी आंखों की बनावट ऐसी है कि हमें
रंगों का आभास होता है।
ओ गाड़ी के नीचे चलने वाले कुत्ते !
मुझे तुझपर बहुत प्यार आता है मेरे लाड़ले !
तू जितना प्यार करना जानता है,

काश आदमी भी जानता !
लेकिन कैसा कटु सत्य है कि
अपनी बिरादरी के लोगों से तू भी प्रेम नहीं करता,
इसलिए मैं कहूं भी तो क्या ?
अब और रहने दो।

अब मैं न लोहपीटे का बेटा हूं,
न मैं किसी ज़मींदार का।
मैं तो इन्सान हूं।
घर बनाकर रहने में मनुष्य ने सभ्यता का विकास किया है,
घर न बनाकर भी उसने संस्कृति के बीजों को बोया है,
भटकनेवाली गाड़ियां एक दिन रुक जाएंगी
और इन गाड़ियों में से आदमी उतर आएंगे
और वे नगर बसाएंगे, गांव बसाएंगे,
जिन्होंने अहद लिया था वे जा चुके हैं
आज जो घूमते हैं वे किसी अहद के लिए नहीं घूमते,
घूमते हैं क्योंकि वे पुरखों की आन को सबसे बड़ा समझते हैं।
वे उन्नति नहीं कर पाते क्योंकि गरीब हैं,
फिर भी वे इज़्ज़त से मरते हैं,
इज़्ज़त से मरते हैं।
आकाश में सूरज चलता है,
धरती पर पवन बहता है,
सूरमाओं के वंशज गाड़ियों में चलते हैं।
सभ्यता उन्हें बहका नहीं सकती,
अपने कपट का जाल उनपर नहीं फैला सकती,
मैं जानता हूं कि जो मैं कह रहा हूं, उसे वे आज
समझ नहीं सकते।
पर कल जब चक्का घूम जाएगा
मेरी बात ऐसे ही स्पष्ट हो जाएगी

जैसे धरती के घूम जाने पर
चमकीला सूरज दिखाई देने लगता है।
ओ मेरे गुरु,
तुम्हें प्रणाम !
तुमने मुझे क्या कुछ नहीं दिया,
ऐसे ही लोक को प्रकाश दो
मेरे गुरु !
तुम्हें सौ-सौ प्रणाम !

जब मैं आया था तब मेरी कोई जाति नहीं थी
और जब मैं जा रहा हूं, तब भी मेरी कोई जाति नहीं है···
आकाश को ऐसा ही खुला रहने दो,
धरती को भी मत बांधो,
तुमने जो बीच-बीच में दीवालें खड़ी कर ली हैं
उन्हें गिरा दो क्योंकि वह तुम्हींने बनाई हैं···
अपने पुरखों के केवल गौरव को लो, उनकी गति का सम्मान करो
उन दिनों की याद करो जब पहिये नहीं थे पर पूर्वज चलना चाहते थे···
और उन पुरानों के बाद में आनेवाले तुम्हारे पूर्वजों ने
विद्रोही बनकर चक्के ढाले थे···
उन विद्रोहों की शपथ
जिन्होंने तुम्हारी गति को अविनश्वर बनाकर रखा है
उन बलिदानों की जय
जिन्होंने तुम्हें अपनेपन के गौरव का पाठ सिखाया है;
लोहू हमारी धमनियों में बहता है
हमारी देही को सींचता है
जैसे नदियां हरे-भरे खेतों को सींचती हैं,
इस लोहू का भेद और बंधन की ज़ंजीर मत बना दो,
मैं यहां हूं,

मुझे छूकर देखो…
क्या मैं तुमसे अलग हूं,
तुम जिसे व्यवहार का नाम देकर सिद्धांत से अलग
करके देखते हो,
वह तुम्हारा डर है, रूढ़ि है,
वह तुम्हारी शंका है, वही तुम्हारा पाप है,
अब मैं जा रहा हूं,
तुम्हें प्रणाम…
आज मैं निर्मल और स्वतन्त्र हूं क्योंकि
आकाश मेरी छत है और धरती मेरा घर…

□ □ □

आशा है यह उपन्यास आपको रुचिकर लगा होगा। इसके बारे में हम आपके बहु-मूल्य विचारों का स्वागत करेंगे। राजपाल एण्ड सन्ज़ का सदैव यह प्रयास रहा है कि उत्कृष्ट प्रकाशनों से हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया जाए; और यह सब आपके हार्दिक सह-योग पर ही निर्भर है। यदि आप कथा-साहित्य पढ़ने में रुचि रखते हैं तो हमारा उत्कृष्ट उपन्यास-साहित्य मंगवाकर पढ़िए अथवा पुस्तकों का चुनाव करते समय हमें लिखिए। हम आपकी हर सम्भव सहायता करने का प्रयास करेंगे।